कामायनी : एक नवीन दृष्टि

रमेशचन्द्र गुप्त
हिन्दी-विभाग, पी. जी. डी. ए. वी. कॉलिज
पहाड़गंज, नई दिल्ली-५५

जीवन ज्योति प्रकाशन
दिल्ली-६

प्रकाशक : प्रेमचन्द शर्मा
जीवन ज्योति प्रकाशन
२०१७, बल्लीमारान, दिल्ली-६



संस्करण : प्रथम, सन् १९७१

मूल्य : बारह रुपये पचास पैसे

मुद्रक : नूतन प्रेस,
चाँदनी चौक, दिल्ली-६

वीणा

(जो श्रद्धा भी है, और इड़ा भी !)

और

रुचिरा को

(इन दोनों की सन्तान वही, कितनी सुन्दर, भोली-भाली !)

भूमिका

छायावाद के सौन्दर्य-चेता कवियों की उपलब्धि का मूल्यांकन करते समय भावना और कला के उत्कर्ष की दृष्टि से किसी एक को महत्त्व-स्वीकृति अथवा अन्य की अभिशंसा तो उचित न होगी, किन्तु विषय-वैविध्य, व्यापक सांस्कृतिक पृष्ठाधार, विभिन्न काव्य-रूपों के सफल प्रयोग तथा कविता के क्षेत्र में मुक्तक और प्रबन्ध-रचना में समान गति के कारण श्री जयशंकर 'प्रसाद' को अपेक्षाकृत अधिक सम्मान देना पक्षपातपूर्ण नहीं कहा जा सकता। उनके कवि-जीवन का श्रेष्ठ दान 'कामायनी' केवल उनका ही नहीं वरन् सम्पूर्ण छायावादी साहित्य का एकमात्र एवं अप्रतिम महाकाव्य है। खड़ीबोली काव्य के इस मानक-ग्रन्थ में व्यक्त भावों की सूक्ष्म अभिव्यंजना के कारण सहृदयों द्वारा इसमें नवीन अर्थ-छायाओं की सम्भावना निरन्तर बनी रहती है। इसीलिए, इसके कवित्व का मूल्यांकन समय-समय पर अनेक मनीषियों द्वारा किये जाते रहने पर भी, अभी इस दिशा में चिन्तन का पर्याप्त अवकाश है : "ज्यौं-ज्यौं निहारिये नैरे ह्वै नैननि, त्यौं-त्यौं अधिक निखरै-सी निकाई।"

'कामायनी : एक नवीन दृष्टि' शीर्षक प्रस्तुत कृति में मैंने इसी दिशा में एक लघु प्रयास किया है। 'कामायनी' के अध्ययन-अध्यापन के सन्दर्भ में इसकी शक्ति और सीमा-विषयक जो विचार मेरे मन में आते रहे हैं, उन्हीं को मैंने विभिन्न निबन्धों के रूप में आकलित कर लिया था—जो अब समवेत रूप में प्रकाशित हो रहे हैं। इनमें से 'दार्शनिक विचार' शीर्षक निबन्ध मेरे स्नेही मित्र श्री देवदत्त कौशिक द्वारा लिखित है—इसको संकलित करने की उन्होंने अनुमति दी, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

अपने निबन्धों की प्रतिपादन शैली में मैंने पाडित्य-प्रदर्शन का प्रयत्नपूर्वक बहिष्कार किया है। यह इस कृति की एक अतिरिक्त विशेषता है, जिसके कारण मुझे विश्वास है कि 'कामायनी' का प्रस्तुत सांगोपांग अध्ययन आकार में लघु होने पर भी जिज्ञासुओं को उपादेय प्रतीत होगा।

३ सी-१४ रोहतक रोड
करौल बाग, नई दिल्ली-५

—रमेशचन्द्र गुप्त

अनुक्रमणिका

प्रसादजी का व्यक्तित्व

हिन्दी के बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार श्री जयशंकर 'प्रसाद' का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित परिवार में माघ शुक्ल दशमी संवत् १९४६ (सन् १८८९) को हुआ था। इनके पितामह श्री शिवरत्न साहु तथा पिता श्री देवीप्रसाद साहु अत्यन्त दानी, धर्मात्मा तथा विनम्र प्रकृति के थे तथा 'सुंघनी साहु' नाम से विशेष रूप से तैयार किये गए तम्बाकू व पान की गोली का व्यापार करते थे। पुत्र-प्राप्ति के लिए इनके पिता ने अपने इष्टदेव शंकरजी की स्तुति में वैद्यनाथधाम के झारखण्ड से लेकर उज्जयिनी के महाकाल तक के शिवलिंगों की आराधना की थी।

इनके पिता श्री देवीप्रसाद उदार और धर्मप्रिय व्यक्ति थे। माता श्रीमती मुन्नीदेवी भी धर्म-भाव में लीन रहती थीं। धन की इनके परिवार में कमी न थी, क्योंकि सुंघनी का व्यापार उन दिनों बहुत समृद्ध था। इस अर्जित धन का दान करने में भी देवीप्रसाद जी संकोच न करते थे। ज्ञान-चर्चा व मनोरंजन के लिए विद्वानों व कवियों की गोष्ठियों का आयोजन भी अपने घर पर यदा-कदा करते रहते थे। ऐसे आदर्श वातावरण में प्रसादजी की बाल्यावस्था सुखपूर्वक बीत रही थी, किन्तु उनका यह सुख अधिक समय तक न रह सका और उन्हें शीघ्र ही अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा। इनकी बारह वर्ष की अवस्था में सन् १९०१ में पिता का तथा पन्द्रह वर्ष की अवस्था में सन् १९०४ में माता का स्वर्गवास हो जाने के कारण उन्हें माता-पिता का स्नेह अधिक समय तक प्राप्त न हो सका। इसी शोक के कारण उन्होंने केवल आठवीं कक्षा तक क्वीन्स कालेज में शिक्षा ग्रहण की और बाद में आचार्य दीनबन्धु द्वारा घर पर संस्कृत, हिन्दी, बँगला, उर्दू आदि का ज्ञान प्राप्त किया। माता के देहान्त के दो वर्ष पश्चात् उनके बड़े भाई शम्भूरत्नजी का भी देहान्त हो गया। इस प्रकार प्रसादजी इस संसार में अकेले रह गए और किसी प्रकार जीवन के संघर्ष झेलते हुए वे आगे बढ़ते रहे। इसी बीच उन्होंने स्वयं अपने तीन विवाह किये। पहला विवाह उन्होंने बीस वर्ष की आयु में संवत् १९६६ में किया, किन्तु दस वर्ष पश्चात् उनकी पत्नी की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के एक वर्ष बाद ही उन्होंने

पुनर्विवाह किया, किन्तु दुर्भाग्य से केवल एक वर्ष व्यतीत होने पर ही पुत्र-जन्म के समय नवजात शिशु के साथ ही उसका भी देहान्त हो गया। लगभग पाँच वर्ष बाद प्रसादजी ने तीसरा विवाह किया। यद्यपि प्रथम पत्नी की मृत्यु के पश्चात् वे इस संसार से विरक्त हो गए और दूसरा विवाह न करने का प्रण किया, किन्तु भाभी के अत्यधिक अनुरोध के कारण उन्हें क्रमशः दूसरा व तीसरा विवाह करना पड़ा। उनके एकमात्र पुत्र रत्नशंकर उनकी तीसरी पत्नी की ही सन्तान हैं।

प्रसादजी का शारीरिक गठन अत्यन्त आकर्षक था। वे प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठकर घूमने के लिए गंगा की ओर जाते और लौटकर व्यायाम करके स्नान, भोजनादि से निवृत्त होकर दुकान पर चले जाते थे। ग्यारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपनी माता जी के साथ ओंकारेश्वर, पुष्कर, ब्रज, अयोध्या आदि की धार्मिक यात्रा की थी। इस यात्रा में नर्मदा नदी में नौका-विहार करते समय उनका हृदय प्रकृति की ओर आकृष्ट हुआ और कालान्तर में उन्होंने इसे अपने काव्य का विषय बनाया। काव्य-रचना के प्रति प्रसादजी के हृदय में शैशव से ही अनुराग था। उन्होंने अपनी सर्वप्रथम रचना एक समस्यापूर्ति के रूप में नौ वर्ष की आयु में 'कलाधर' उपनाम से लिखी थी। उनकी यह प्रारम्भिक समस्या-पूर्ति इस प्रकार थी—

"हारे सुरेस, रमेस, धनेस, गनेस हु सेस न पावन पारे।
पारे हैं कोटिक पातकी पुंज 'कलाधर' ताहि छिनो लिखि तारे॥
तारेन की गिनती सम नाहि, सु जेते तरे प्रभु पापी बिचारे।
चारे चले न बिरंचिहु के जो दयालु ह्वै संकर नेकु निहारे।"

इस समस्या-पूर्ति को अबोध बालक प्रसाद के मुँह से सुनते ही उनके गुरु 'रससिद्ध' मोहिनीलाल गुप्त आश्चर्यचकित हो गए और उन्होंने प्रसादजी को महाकवि बनने का आशीर्वाद दिया। उनका वह आशीर्वाद कालान्तर में पूर्णरूपेण सत्य प्रमाणित हुआ। यह ज्ञातव्य है कि प्रसादजी प्रायः दुकान पर बैठे-बैठे बहीखाते के पुराने कागजों पर कविता लिखते रहते थे। जब कभी अग्रज शम्भुरत्नजी कविता लिखने के कारण क्रुद्ध होते थे तो भाभी सदा 'प्रसाद' का पक्ष लेती थीं। कदाचित् इसी कारण उन्होंने नारी को सदैव आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखा था। जब कभी कुल-वधुएँ मार्ग पर चलती मिल जाती थीं तो प्रसादजी अपने मित्रों से दूसरी ओर से चलने का आग्रह करते। (संगम प्रसाद स्मृति अंक, पृष्ठ ४३, १८ फरवरी, १९५१)। 'कामायनी' में नारी का श्रद्धापूर्ण चित्रण सम्भवतः उनकी इसी भावना के कारण सम्भव हो सका है।

प्रसादजी संकोचशील स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने अपने जीवन में कभी किसी कवि-सम्मेलन अथवा सभा का सभापति बनना स्वीकार न किया। अपने

जीवन मे शायद पहली बार उन्होने काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित कोषोत्सव के अवसर पर 'कामायनी' के 'लज्जा' सर्ग का कुछ भाग पढ़ा था। उनके ग्रन्थो मे जिस प्रकार आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है उसी प्रकार उनका व्यक्तिगत जीवन भी आदर्शवादी था। वे गम्भीर होने के साथ-साथ रसिक भी थे और अपने यौवन के दिनो मे ढाका की मलमल का कुरता तथा शान्तिपुरी धोती पहनते थे। बाद में खद्दर का उपयोग भी करने लगे थे। सर्दी में पट्टू का कुरता और ओवरकोट पहनते थे। हाथ में काला डण्डा और आंखो पर धूप की ऐनक लगा कर उनका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक लगता था। वे सरल और सात्त्विक जीवन व्यतीत करने के पक्ष में थे। पान और सुपारी खाने के अतिरिक्त उन्हे किसी प्रकार का व्यसन न था। सिनेमा भी वे कम ही देखते थे। नाव की सैर करने का उन्हें विशेष शौक था। प्रकृति-प्रेमी होने के कारण उन्होंने अपने घर में एक छोटा-सा उपवन बना रखा था। इसी उपवन में एक ओर पारिजात के वृक्ष के नीचे पत्थर की चौकी पर बठकर वे मित्रों को कविताएँ सुनाते थे। मित्रों का स्वागत करने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। इस सम्बन्ध मे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

"(वे) मित्रों का स्वागत बड़ी आकर्षक और आत्मीय नेत्रगति से करते थे, अक्सर मित्रों के कन्धे पकड़कर हलके ढंग से झकझोर देते थे, जिससे यदि कहीं खिन्नता या उपालम्भ का भूत सवार हो, तो तुरन्त उतर जाय। रहा-सहा अवसाद उनके ठहाकों से दूर हो जाता था।"[1]

वास्तव में प्रसादजी के स्वस्थ शारीरिक गठन और उनके निश्छल व्यवहार मे अद्भुत आकर्षण था। प्रथम भेंट होने पर भी आगन्तुक उनके प्रति समर्पित हो जाता था। प्रसिद्ध कवयित्री महादेवी वर्मा ने जब उनसे प्रथम बार भेंट की तब उनके मन पर भी प्रसादजी के सौजन्य का अमिट प्रभाव पड़ा था। महादेवीजी के ये उद्गार प्रसादजी का कितना सही रूप प्रस्तुत करते हैं—

"न अधिक ऊँचा न नाटा, मझोला कद, न दुर्बल न स्थूल, छरहरा शरीर, गौर वर्ण, माथा ऊँचा और प्रशस्त, बाल न बहुत घने न विरल, कुछ भूरापन लिये काले, चौड़ाई लिये मुख, मुख की तुलना में कुछ हल्की सुडौल नासिका, आँखों में उज्ज्वल दीप्ति, ओठों पर अनायास आनेवाली बहुत स्वच्छ हँसी, सफ़ेद खादी का कुरता। उनकी उपस्थिति में मुझे एक उज्ज्वल स्वच्छता की वैसी ही अनुभूति हुई जैसी उस कमरे में सम्भव है जो सफ़ेद रंग से पुता और सफेद फूलों से सजा हो।"[2]

---

१. जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ २२-२३
२. पथ के साथी, पृष्ठ ६१

प्रसादजी को पाक-कला मे भी विशेष रुचि थी। वे अपने मित्रों के लिए स्वयं भोजन तैयार करके आनन्द का अनुभव करते थे और मित्रो द्वारा उसकी प्रशंसा सुन कर फूले न समाते थे। मटर, गोभी व आलू की सब्जी और चूरमे के लड्डू बनाने मे तो उन्हे कमाल हासिल था।[1] स्वाद मे नवीनता लाने के लिए वे दो-तीन चीजो का सम्मिश्रण कर दिया करते थे। राय कृष्णदास ने इस सम्बन्ध मे लिखा है कि वे जब गन्ने का रस पीते थे तो उसमे स्वाद के लिए आम का और भी पिरवा देते थे।[2] इस सम्बन्ध मे यह ज्ञातव्य है कि वे आहार की दृष्टि से पूर्णत सात्त्विक मनोवृत्ति के थे। उन्होंने भाँग या ठडई के अतिरिक्त कभी किसी मादक वस्तु का सेवन नही किया और उनके परिवार मे मासाहार की छूट होने पर भी वे आजीवन शाका-हारी बने रहे।

इसी प्रसग मे प्रसादजी के रसिक व्यवहार की चर्चा कर देना भी उचित होगा। शारीरिक दृष्टि से वे अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट थे, वैभवपूर्ण परिवार मे उनका जन्म हुआ था और सरल हृदय एव मधुर वाणी उनकी अतिरिक्त विशेषताएँ थी। कवि हृदय होने के कारण वे सौन्दर्य के अनन्य उपासक थे। इस सब का यह परिणाम हुआ कि उनका अनेक नर्तकियो से परिचय हो गया। काशी मे उन दिनों सिद्धेश्वरी बाई की बहुत चर्चा थी। प्रसादजी भी अपने अन्तरग मित्रो के साथ उनके मधुर सगीत को सुनते थे।[3] नारियल बाजार की किशोरीबाई और भगवती तो उन पर अत्यन्त आसक्त रहती थी। कहते हैं कि भगवती तो एक दिन उनके घर पर स्थायी रूप से रहने के लिए ही पहुँच गई थी, जिसे प्रसादजी ने बडी कठिनाई से समझाया। इस प्रकार प्रसादजी की रसिक वृत्ति का सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

प्रसादजी पूर्ण रूप से आस्तिक थे और शिव की पूजा करते थे। उनका जीवन एक साधक के समान था। वे नियमित रूप से कुछ-न-कुछ अवश्य लिखते थे और पाँच-छः घण्टे ऐतिहासिक-पौराणिक ग्रन्थो का अध्ययन करते थे। जीवन-पर्यन्त उन्होंने किसी भी पत्र-पत्रिका से पारिश्रमिक के रूप मे कुछ नही लिया। उनकी अलौकिक काव्य-प्रतिभा के कारण 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' ने पाँच सौ रुपये तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने दो सौ रुपये देकर उन्हें पुरस्कृत किया था। किन्तु प्रसादजी ने यह सम्पूर्ण राशि काशी नागरी प्रचारिणी सभा को अपने भाई का स्मारक बनाने के लिए दे दी। उनकी मृत्यु के उपरान्त 'कामायनी' पर भी उन्हें 'मगलाप्रसाद पारितोषिक' प्रदान किया गया।

---

१. प्रसाद और उनका साहित्य, पृष्ठ ३०

२ नई धारा, अक फाल्गुन स० २००७, पृष्ठ ३२

३ देखिए, 'प्रसाद का जीवन और साहित्य', पृष्ठ २०

प्रसादजी के अन्तिम दिन अत्यन्त कष्ट से व्यतीत हुए। संवत् १९९३ में वे डॉ० मोतीचन्द के भाई श्री नारायणचन्द के विवाहोत्सव में सम्मिलित हुए थे। उस अवसर पर दिये गए प्रीति-भोज में उन्हें जाड़ा लगने लगा और वे ज्वर-ग्रस्त हो गए। धीरे-धीरे ज्वर उतरा तो कुछ मास पश्चात् उन्हें खाँसी हो गई और साथ ही पेट में दर्द रहने लगा। ऐसी ही अवस्था में अपने पुत्र रत्नशंकर के अनुरोध पर वे लखनऊ में एक प्रदर्शनी देखने गए, किन्तु जब वहाँ से लौटे तो प्राय: उदास रहने लगे। तभी से उन्हें ज्वर भी रहने लगा। जब कई दिन तक ज्वर नहीं उतरा तब उनके कफ की परीक्षा कराई गई जिससे ज्ञात हुआ कि उन्हें राजयक्ष्मा हो गया है। डाक्टरों ने वायु-परिवर्तन का परामर्श दिया, किन्तु प्रसादजी ने अपनी प्रिय 'काशी' को छोड़ना स्वीकार न किया। ज्वर से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने लगभग आठ-नौ मास तक होम्योपैथिक चिकित्सा की, किन्तु इससे विशेष लाभ न हुआ। दो मास तक आयुर्वेदिक औषधियों का सेवन भी किया, किन्तु जब इस चिकित्सा-पद्धति से भी उन्हें लाभ नहीं हुआ तब उन्होंने पुन: होम्योपैथी का आश्रय लिया। इन दिनों प्राय: दिनभर वे शय्या पर लेटे रहते थे। बीमारी के कारण उनका मुख कान्तिहीन और शरीर दुर्बल हो गया था। बात करने में भी उन्हें कष्ट होता था। १४ नवम्बर कार्तिक शुक्ल एकादशी को उनकी दशा अधिक बिगड़ गयी तथा श्वास लेने में भी कष्ट होने लगा। अन्त में संसार के अनेक कष्टों को सहने के पश्चात् कार्तिक शुक्ल एकादशी संवत् १९९४ (सन् १९३७) को सायंकाल ४-३० बजे ४८ वर्ष की आयु में हिन्दी के उन्नायक प्रसादजी का प्राणान्त हो गया। उनकी शवयात्रा रात्रि को आठ बजे प्रारम्भ हुई और पूर्वजों की प्रथानुसार काशी के हरिश्चन्द्र घाट पर उनकी अन्त्येष्टि की गई।

प्रसादजी सच्चे साहित्य-सेवी थे। उन्होंने सदैव निःस्वार्थ भाव से साहित्य की सेवा की। सन् १९४० में उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए महाप्राण 'निराला' ने ठीक ही कहा था—

> "किया मूक को मुखर, लिया कुछ, दिया अधिकतर।
> पिया गरल पर किया जाति, साहित्य को अमर॥"

प्रसाद-साहित्य में उनके व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया

कवि के व्यक्तिगत जीवन के अन्तर्द्वन्द्वों का उसके काव्य पर यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। प्रसादजी के जीवन में आने वाली घटनाओं का प्रभाव भी उनके काव्य में देखा जा सकता है। उनके जीवन की कुछ विशेषताएँ ये हैं—

१. वे शैवोपासक थे।
२. उन्हें अनेक भाषाओं का ज्ञान था।

३. जीवन में उन्हें अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा।
४. प्रकृति के प्रति उनके मन में अगाध प्रेम था।
५. नारी को वे श्रद्धापूर्ण दृष्टि से देखते थे।
६. विषम स्थिति में भी मस्त रहना उनकी निजी विशेषता थी।

शैवोपासक होने के कारण प्रसाद-साहित्य में शैव-दर्शन की अभिव्यक्ति है। 'कामायनी' में इसके दार्शनिक पक्ष का सुन्दर उद्घाटन हुआ है। शैवागम के पारिभाषिक शब्दों को उन्होंने निस्संकोच स्वीकार किया है। 'लहर' की कुछ कविताओं और नाटकों में बौद्ध दर्शन के निराशावाद की छाप भी देखी जा सकती है। संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित होने के कारण उन्होंने तत्सम शब्दों के प्रति अधिक रुचि का परिचय दिया है। ब्रज तथा अरबी-फारसी की शब्दावली भी उनके काव्य में प्रकीर्ण रूप में उपलब्ध हो जाती है। संघर्षशील जीवन का प्रभाव अधिकांशतः उनके नाटकों पर पड़ा है। उनमें आने वाले स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त आदि पात्र नाना संघर्षों में से गुजरते हुए ही अभीष्ट फल की प्राप्ति कर पाते हैं। 'झरना', 'कानन-कुसुम', 'लहर', 'कामायनी' आदि काव्य ग्रन्थों तथा अनेक कहानियों में स्थान-स्थान पर प्राकृतिक सौन्दर्य का सुंदर चित्रण है। नारी के श्रद्धापूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति 'कामायनी' में अत्यन्त सुन्दर एवं हृदयग्राही बन पड़ी है।

२

युग, कृतित्व और मान्यताएँ

(१) प्रसाद का युग

प्रत्येक साहित्य-स्रष्टा युगीन वातावरण से प्रभावित रहता है। समकालीन समाज का चित्रण करने के अतिरिक्त उस समय की साहित्यिक प्रवृत्तियों की उपेक्षा करने में भी वह असमर्थ रहता है। प्रसादजी की प्रकाशित कृतियों से स्पष्ट है कि उनका रचना-काल लगभग संवत् १९६६ से संवत् १९९२ तक रहा है। उनकी प्रथम कविता संवत् १९६३ में 'भारतेन्दु' मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। संवत् १९६६ में उन्होंने अपने भानजे के माध्यम से 'इन्दु' मासिक का प्रकाशन प्रारम्भ करवाया और इसके लिए वे निरन्तर लिखते रहे। 'कामायनी' उनकी अंतिम प्रकाशित कृति है, जो संवत् १९९२ में प्रकाशित हुई थी। इसके प्रकाशन के दो वर्ष पश्चात् संवत् १९९४ में उनका स्वर्गवास हो गया। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टि से प्रसाद जी का रचना-काल सवत् १९६६—१९९२ के मध्य ही रहा है। २६ वर्षों के इस समय में साहित्य के अन्तर्गत दो युगों का प्राधान्य रहा—द्विवेदी युग तथा छायावादी युग। प्रसादजी के काव्य पर इन दोनों युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रभाव स्वाभाविक था।

प्रसादजी द्वारा काव्य-क्षेत्र में प्रवेश करने के समय यद्यपि द्विवेदी युग (संवत् १९५७-१९७१) प्रारम्भ हो चुका था, तथापि आचार्य द्विवेदी का प्रभाव अभी व्यापक रूप मे नही फैल सका था। काशी के अनेक साहित्यकार उस समय भी भारतेन्दु-कालीन रचना-शैली और विषय-वस्तु को अपनाते हुए ब्रजभाषा में ही कविता लिख रहे थे। जगन्नाथदास 'रत्नाकर', किशोरीलाल गोस्वामी, द्विज, रसीले आदि कवियों का नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। प्रसादजी भी भारतेन्दुकालीन शैली से प्रभावित हुए, जिसे उनकी प्रारम्भिक कृतियों में अनायास देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ—(अ) भारतेन्दुजी के 'रामलीला' चम्पू की भाँति 'प्रसादजी ने 'उर्वशी' व 'बभ्रूवाहन' नामक चम्पू लिखे। (आ) भारतेन्दुजी ने प्रिंस एलबर्ट

के निधन पर शोक-कविता लिखी, प्रसादजी ने भी सम्राट् एडवर्ड सप्तम के स्वर्गवास पर 'शोकोच्छ्‌वास' लिख कर ऐसा ही प्रयास किया। (इ) भारतेन्दुजी की 'देवी छद्‌मलीला', 'रानी छद्‌मलीला' आदि की भाँति प्रसादजी ने भी अनेक लघु प्रबन्ध-काव्य लिखे थे—'प्रेम-पथिक', 'वन-मिलन', 'अयोध्या का उद्धार' आदि। (ई) भारतेन्दुजी ने 'बकरी विलाप', 'हिन्दी भाषा' आदि अनेक पद्य-निबन्ध लिखे थे। प्रसादजी ने भी २२ पद्य-निबन्ध लिखे, जो 'चित्राधार' में संगृहीत हैं। (उ) भारतेन्दुजी के मुक्तक कवित्त-सवैयों के समान प्रसादजी ने भी 'चित्राधार' के 'मकरन्द बिन्दु' खण्ड में ऐसे ही अनेक मुक्तक लिखे हैं। इन्हीं साम्यों के कारण डॉ० द्वारिकाप्रसाद का यह कथन उचित है कि, "भारतेन्दु का पूरा-पूरा अनुकरण करते हुए प्रसादजी ने अपने प्रारम्भिक साहित्य की सृष्टि की।"[1]

द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक शैली और बौद्धिक भावनाओं का भी प्रसादजी पर न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा था। 'कानन-कुसुम', 'करुणालय', 'महाराणा का महत्त्व' आदि कृतियाँ इसी युग से प्रभावित हैं। इन सभी में इतिवृत्तात्मक शैली, उपदेशपूर्ण नैतिक कथन, प्रकृति का आलम्बनात्मक चित्रण तथा बाह्य वर्णनों का प्राचुर्य है। कल्पना की अपेक्षा बौद्धिकता का पुट इनमें अधिक है और प्रकृति-चित्रण में भी प्रायः विवरणात्मकता है।

द्विवेदी युग की नीति-परक एवं इतिवृत्तात्मक काव्य-प्रणाली के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया उस समय हुई उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया है। छायावादी युग का प्रभुत्व संवत् १९७१ से संवत् १९९२ तक रहा। उपर्युक्त दोनों युगों से प्रभावित रहने पर भी यह निश्चित है कि प्रसादजी का अधिकांश साहित्य छायावादी वातावरण में लिखा गया। उनके 'झरना' नामक काव्य-संग्रह से ही 'छायावाद' का प्रवर्तन माना गया है।[2] 'झरना' के अतिरिक्त उनके तीन श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ—'लहर', 'आँसू', 'कामायनी'—भी इसी युग की देन हैं। इनमें छायावाद की भाव और शैली-गत सभी विशेषताएं अनायास ही खोजी जा सकती हैं। आलोच्य कवि के अनुसार "ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृत्ति छायावाद की विशेषताएं हैं।"[3]—और उनने अपने काव्य में अभिव्यक्ति के लिए इन सभी कौशलों का उपयोग किया भी है। छायावादी काव्यधारा का प्रतिनिधि काव्य होने के कारण 'कामायनी' में तो इनका

---

१. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृष्ठ २८

२. "जिस शैली की कविता को हिन्दी साहित्य में आज दिन 'छायावाद' का नाम मिल रहा है, उसका आरम्भ वस्तुतः भरना द्वारा ही हुआ था।"
—'झरना' : प्रकाशक का निवेदन

३ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२८

सर्वोत्कृष्ट संयोजन हुआ है। इस सम्बन्ध में आचार्य शान्तिप्रिय द्विवेदी ने उचित ही कहा है कि "सब मिलाकर यह काव्य वर्तमान छायावाद का उपनिषद् है, पिछले युग के कवित्व का अन्तिम स्तूप है। नवीन युग इसके आगे है।"[1]

(२) प्रसादजी की कृतियाँ

प्रसादजी अपने युग के अत्यन्त प्रतिभावान् साहित्यकार थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। काव्य तथा गद्य के क्षेत्र में प्रचलित प्रायः सभी विधाओं को उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा समृद्ध किया। भाव, भाषा और शैली के क्षेत्रों में प्रयोग करते हुए उन्होंने हिन्दी-साहित्य को 'कामायनी' और 'चन्द्रगुप्त' सरीखी प्रौढ रचनाओं से अलंकृत किया। पृथक्-पृथक् विधाओं की दृष्टि से उनकी सम्पूर्ण उपलब्धि को इस प्रकार विभक्त किया जा सकता है—

(क) मुक्तक कविताएँ—

'चित्राधार' (संवत् १९७५), 'कानन-कुसुम' (संवत् १९७०), 'झरना' (संवत् १९७५) तथा 'लहर' (संवत् १९९०) में संकलित कविताएँ।

(ख) प्रबन्धात्मक काव्य—

'प्रेमराज्य'[2] (संवत् १९६६), 'वन मिलन'[3] (संवत् १९६६), 'अयोध्या का उद्धार'[4] (संवत् १९६७), 'शोकोच्छ्वास'[5] (संवत् १९६७), 'प्रेम-पथिक' (संवत् १९७१), 'महाराणा का महत्त्व' (संवत् १९७१), 'आँसू' (संवत् १९८२), 'कामायनी' (संवत् १९९२)

(ग) नाटक—

'सज्जन'[6] (संवत् १९६७), 'कल्याणी परिणय'[7] (संवत् १९६९), 'करुणालय' (संवत् १९७०), 'राज्य श्री' (संवत् १९७१), 'विशाख' (संवत् १९७८), 'अजातशत्रु' (संवत् १९७९), 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' (संवत् १९८३), 'कामना' (संवत् १९८३), 'स्कन्दगुप्त' (संवत् १९८२), 'एक घूँट' (संवत् १९८६), 'चन्द्रगुप्त' (संवत् १९८८), ध्रुवस्वामिनी' (संवत् १९९०)

(घ) कहानी—

'छाया' (संवत् १९६९), 'प्रतिध्वनि' (संवत् १९८३), 'आकाशदीप' (संवत् १९८६), 'आँधी' (संवत् १९८६), तथा 'इन्द्रजाल' (संवत् १९९३) में संकलित कहानियाँ।

---

१. युग और साहित्य, पृष्ठ २८१

२-३. ये रचनाएँ 'चित्राधार' में संकलित हैं

४-७. ये रचनाएँ 'चित्राधार' में संकलित हैं

(ङ) उपन्यास—

'तितली' (संवत् १९९१), 'कंकाल' (संवत् १९८६), 'इरावती' (अपूर्ण)

(च) निबन्ध—

'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में संकलित आठ निबन्ध, 'कामायनी' एवं नाटकों की भूमिकाओं के रूप में लिखे गए गवेषणात्मक निबन्ध तथा 'इन्दु' नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित पाँच निबन्ध।

(छ) गद्य-गीत—

प्रसादजी ने श्री रायकृष्ण दास की 'साधना' से प्रेरित होकर लगभग २०-२५ गद्य-गीत भी लिखे थे, किन्तु बाद में उनमें से कुछ को तो उन्होंने 'झरना' की कविताओं में भावान्तरित कर दिया तथा शेष अप्रकाशित ही नष्ट कर दिये।[1]

(३) प्रसाद जी का भाव-सौंदर्य

प्रसादजी ने इन कृतियों में सामान्यतया जिन भावों को व्यक्त किया है, उन पर विचार कर लेना भी उचित होगा। इससे उनके जीवन-दर्शन के प्रमुख सूत्रों को हम अनायास ही समझ लेंगे प्रसादजी आनन्दवादी हैं। वे मानव-मात्र में समता, भ्रातृत्व, समन्वयशीलता जैसी उदार भावनाएँ देखना चाहते थे। विश्व में व्याप्त आध्यात्मिक सौन्दर्य के उपासक होने के कारण उन्हें सृष्टि के कण-कण में सौन्दर्य की व्याप्ति दिखाई देती है। नियति को उन्होंने विश्व की नियामिका शक्ति माना है और उसे विश्व के संतुलन एवं मानव-अनिचारों के नियमन में सहायक के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

भारतीय संस्कृति और इतिहास के प्रति प्रसादजी के मन में असीम श्रद्धा रही है। राष्ट्र से उन्हें अनन्य प्रेम है। भारत की ऐतिहासिकता उन्होंने ऋग्वेद से मानी है और नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'कोशोत्सव स्मारक संग्रह' ग्रन्थ में इन्द्र को भारत का प्रथम सम्राट् घोषित किया है।

स्थूल वर्णन की अपेक्षा प्रसादजी सूक्ष्म अभिव्यंजना के पक्ष में थे। उन्होंने मानव की अन्त:प्रकृति के चित्रण पर अधिक बल दिया है। इसी कारण स्थूल वर्णनों की अपेक्षा उनके काव्य में अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता है। चरित्र-चित्रण में वे आदर्शवाद के समर्थक रहे हैं। स्वच्छन्दतावादी होने के कारण उन्होंने भावों और शैली के क्षेत्र में अनेक नवीन दिशाएँ उद्घाटित की हैं। प्रतीकात्मकता, लाक्षणिकता एवं उपचार-वक्रता उनकी अभिव्यंजना शैली के प्रमुख गुण हैं।

---

१. देखिए, 'प्रसाद और उनका साहित्य' (विनोदशंकर व्यास), प्रारम्भिक प्रवेश, पृष्ठ ५

सारांश यह कि प्रसादजी युगद्रष्टा, युगस्रष्टा, क्रान्तदर्शी एवं वास्तविक अर्थ में अमर साहित्यकार हुए हैं।

(४) काव्य-शिल्प सम्बन्धी मान्यताएँ

आधुनिक हिन्दी काव्य-धारा के प्रबल पोषक कवियों में महाकवि जयशंकर प्रसाद का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने इयत्ता और ईदृक्ता, दोनों ही दृष्टियों से स्वस्थ काव्य का प्रणयन किया है। विचारों की अभिव्यंजना-शैली के सम्बन्ध में प्रायः प्रत्येक कवि की निजी मान्यताएँ होती हैं। उन्हीं के आधार पर वह काव्य-प्रणयन करता है। छायावाद के प्रायः सभी प्रमुख कवियों ने शिल्प-सौन्दर्य के सम्बन्ध में अपनी रचनाओं में स्फुट विचार प्रकट किये हैं। प्रसादजी के काव्य में इस प्रकार के संकेत उपलब्ध नहीं हैं, तथापि उनके 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' शीर्षक निबन्ध-संग्रह में प्रकीर्ण रूप से मिलने वाली विचारधारा को क्रमबद्ध रूप में सम्पादित करके आलोच्य कवि के तद्विषयक विचारों से अवगत हुआ जा सकता है। परिमाण में सीमित होने पर भी कवि के इन विचारों का निजी महत्त्व है।

प्रसादजी अनुभूति और अभिव्यक्ति को पृथक्-पृथक् देखने के पक्ष में नहीं हैं। उनकी मान्यता है कि यदि कवि में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति का तीव्र आवेग है तो उसकी अभिव्यक्ति निस्सन्देह सुन्दर और समर्थ होगी। 'काव्य और कला' शीर्षक निबन्ध में इस विचार को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

(अ) 'व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है। क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही।'[१]

(आ) 'जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है, वहीं अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र में पूर्ण हो सकी है। वही कौशल या विशिष्ट पद-रचना-युक्त काव्य-शरीर सुन्दर हो सका है।'[२]

अभिव्यक्ति को अनुभूति से सहज सम्बद्ध मानकर प्रसादजी ने उसे स्वाभाविक वक्रता से समृद्ध करने पर बल दिया है। यह वक्रता शब्द और अर्थ अर्थात् कथन-शैली और कल्पना, दोनों में उत्पन्न की जा सकती है। प्रसादजी इन दोनों में ही वक्रता का समावेश चाहते हैं—"शब्द और अर्थ की यह स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति का सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है।"[३] वक्रोक्ति के पोषक होने पर भी प्रसादजी ने इसका उपयोग उसी अवसर पर करने का परामर्श दिया है जब कवि और उसकी अनुभूति में पूर्ण तादात्म्य की स्थिति आ चुकी हो। अपूर्ण अनुभूति को यदि वक्रतापूर्ण शैली

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ४४

२. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ ४५

३. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२५

में वर्णित किया जाएगा तो कवि की अभिव्यक्ति अस्पष्ट ही रह जाएगी—"हो सकता है, जहाँ कवि अनुभूति का पूर्ण तादात्म्य नहीं कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विशृंखल हो गयी हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो।"[1] अतः प्रसादजी वक्रतामयी कथन-शैली के पक्ष में तो थे, किन्तु केवल उसी स्थिति में जबकि कवि को भावों की पूर्ण अनुभूति हो गयी हो।

यहाँ यह भी ध्यान रखने की बात है कि सम्भवतः वक्रता से प्रसादजी का तात्पर्य कुन्तक की वक्रोक्ति से नहीं था। केवल अलंकार, रीति अथवा वक्रोक्ति के काव्य-सम्प्रदाय में वे कला की सत्ता मानने के पक्ष में नहीं थे। यथा—"कला के प्रति अधिक पक्षपातपूर्ण विचार करने पर यह कोई कह सकता है कि अलंकार, वक्रोक्ति और रीति और कथानक इत्यादि में कला की सत्ता मान लेनी चाहिए, किन्तु मेरा मत है कि सब समय-समय की मान्यता और धारणाएँ हैं। प्रतिभा का किसी कौशल-विशेष पर कभी अधिक झुकाव हुआ होगा। इसी अभिव्यक्ति के बाह्य रूप को कला के नाम से काव्य में पकड़ रखने की साहित्य में प्रथा-सी चल पड़ी है।"[2] अतः काव्य में वक्रता का समावेश करने से आलोच्य कवि का अभिप्राय यही है कि किसी भी प्रकार के विलक्षण कथन से काव्य में सौन्दर्य-वृद्धि की जाए। इस विलक्षणता की सृष्टि शब्दों के विदग्ध प्रयोग द्वारा भी की जा सकती है—"शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द-विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है।"[3] इस प्रकार प्रसादजी शब्दों की आत्मा को पहचानने के अनन्तर ही उनका प्रयोग करने के पक्ष में थे। शब्द का पूर्ण ज्ञान हो जाने पर अर्थात् स्थल-विशेष के लिए किसी विशिष्ट शब्द अथवा उसके किसी विशिष्ट पर्याय के प्रयोग से काव्य में अर्थ-सौन्दर्य की सृष्टि होती है। प्रसादजी के अनुसार "इसी अर्थ-चमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य में मान्य हुए।"[4]

प्रसादजी का यह विचार भी था कि यदि कवि अत्यन्त सूक्ष्म भावों की परिकल्पना करता है और उनकी अभिव्यक्ति के लिए प्रचलित पद-योजना को असफल पाता है तो उसे नवीन शैली तथा शब्द-विन्यास की प्रयुक्ति का पूर्ण अधिकार है। हिन्दी के छायावादी कवियों की यही विशेषता रही है कि उन्होंने अपने आन्तरिक भावों के उद्घाटन के लिए नवीन अभिव्यंजना प्रणाली का आश्रय लिया था।

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२८
२ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ४४
३ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२४
४ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२४

'यथार्थवाद और छायावाद' शीर्षक निबन्ध में प्रसादजी ने इस प्रवृत्ति का समर्थन निम्नलिखित शब्दों में किया है -

"आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। × × × × शब्द-विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया।"[1]

वस्तुतः प्रसादजी नवीन शब्द-विन्यास और शैली की नवभंगिमा को बुरा नहीं मानते थे। उन्होंने तो स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त "छायावाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता। भाषा अपने सांस्कृतिक सुधारों के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है। उच्चतम साहित्य का स्वागत करने के लिए।"[2]

भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए प्रसादजी ने प्रतीकों की असंदिग्ध महत्ता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार यदि कोई कवि भावों को मूर्त रूप में प्रस्तुत करना चाहता है तो उसे प्रतीकों का अनिवार्य प्रयोग करना पड़ेगा—"सौन्दर्य की अनुभूति के साथ-ही-साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं।"[3] प्रतीक-योजना में प्रसादजी सरलता अथवा क्लिष्टता को कोई महत्त्व नहीं देते—सच तो यह है कि वे प्रतीकों को क्लिष्ट मानते ही नहीं। यदि प्रमाता विद्वान् है तो उसके लिए कुछ भी दुर्बोध नहीं है। आलोच्य कवि ने इस विचार को महाप्राण 'निराला' की 'गीतिका' पर सम्मति देते हुए इस प्रकार व्यक्त किया है—"आलम्बन के प्रतीक, उन्हीं के लिए अस्पष्ट होंगे, जिन्होंने यह नहीं समझा है कि रहस्यवादी अनुभूति, युग के अनुसार अपने लिए विभिन्न आधार चुना करती है।"[4] मुहावरे-लोकोक्ति के माध्यम से भावों को पुष्ट करने के विषय में भी उनका दृष्टिकोण स्वीकारात्मक था। इस प्रसंग में यद्यपि उनका लिखित मत प्राप्त नहीं है; तथापि 'कामायनी' में इनकी बहुसंख्यक योजना इसी तथ्य की पुष्टि करती है। वक्रता, नवीन शब्द-विन्यास, प्रतीक-प्रयोग आदि के कौशल द्वारा अभिव्यंजना को समृद्ध बनाने के अतिरिक्त प्रसादजी ने अभिव्यक्ति के लालित्य की ओर भी ध्यान दिया है। उनके अनुसार संगीत में आनन्दांश और तल्लीनता की

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२३-१२४
२. वही, पृष्ठ १२७
३. वही, पृष्ठ ३५
४. 'गीतिका' में भूमिका से पहले प्रसादजी की सम्मति

मात्रा बहुत अधिक है, इसी कारण "इसका उपयोग काव्य के वाहन-रूप में किया जाता है, जो काव्य की दृष्टि से उपयोगी और आवश्यक है।"[1] किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रसादजी लालित्य के एकान्त उपासक हैं। वास्तविकता तो यह है कि उन्होंने भावना और अभिव्यक्ति के क्षेत्र में कोमलता के साथ-साथ परुषता को भी कवि के लिए आवश्यक माना है। "केवल कोमलता ही कवित्व का मापदण्ड नहीं है"[2] कह कर उन्होंने इसी ओर संकेत किया है।

सारांशत प्रसादजी काव्य की कलात्मक अभिव्यक्ति के पक्ष में थे। छायावाद के वे प्रबल समर्थक थे। उसकी शैलीगत विशेषताओं को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श कर के भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।"[3] स्वयं प्रसादजी के काव्य में इन विशेषताओं को उपयुक्त स्थान प्राप्त हुआ है। ध्वनि, लाक्षणिक वैचित्र्य, प्रतीकों का सुष्ठु प्रयोग तथा उपचार-वक्रता का उनके काव्य में बाहुल्य है। इनसे कवि का अनुभूति-पक्ष दब नहीं गया है, वरन् और भी स्पष्ट रूप में उभर कर उपस्थित हुआ है।

प्रसादजी की सैद्धान्तिक मान्यताएँ संक्षिप्त होने पर भी विवेकपुष्ट हैं। मुख्यत कवि होने के कारण उन्होंने काव्यालोचन को प्राथमिकता नहीं दी, फिर भी स्फुट लेखों में उपलब्ध होने वाली यत्किंचित् सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनके काव्यचिन्तन में भ्रान्ति अथवा अविवेक के लिए अवकाश नहीं है। उनकी काव्य-दृष्टि स्थिर तथा सुस्पष्ट थी। हिन्दी-काव्यशास्त्र के विकास में उनका योगदान चिर-आदृत रहेगा। यह सत्य है कि काव्य-शिल्प की उन्होंने प्रत्यक्ष रूप में अधिक आलोचना नहीं की, परन्तु जितनी सामग्री उपलब्ध है उसका महत्व अविस्मरणीय है। इस सम्बन्ध में डॉ॰ सुरेशचन्द्र गुप्त का यह मत ठीक ही है कि "उनके प्रतिपादन का एकमात्र अभाव यह है कि उन्होंने काव्य-शिल्प की प्रत्यक्ष आलोचना नहीं की है। × × × यदि उन्होंने इस काव्यांग की स्वतन्त्र मीमांसा की होती तो वह निश्चय ही हिन्दी-काव्यशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण भूमिका का कार्य करती। तथापि अनुपलब्ध की चिन्ता न कर केवल उपलब्ध की मीमांसा करने पर भी यह कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्र के क्षेत्र में उनका योगदान अभूतपूर्व है।"[4]

---

१ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ४०
२ 'गीतिका' में भूमिका से पहले प्रसादजी की सम्मति
३ काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ १२८
४ आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य-सिद्धान्त, पृष्ठ ३६७

3

काव्य-रचनाएँ

श्री जयशंकर 'प्रसाद' की काव्य-प्रतिभा का विकास उस समय हुआ, जब भारतेन्दु-युग का प्रायः अन्त हो चुका था तथा द्विवेदी-युग का उदय होने वाला था। उस समय एक ओर तो स्वयं भारतेन्दु बाबू ब्रजभाषा को ही पद्य के लिए उपयुक्त मानते थे तथा दूसरी ओर इसके स्थान पर खड़ीबोली को ग्रहण करने पर बल दिया जा रहा था। प्रसादजी ने भी पहले भारतेन्दुयुगीन विचारों से सहमति प्रकट करते हुए ब्रजभाषा को ही काव्य-भाषा के रूप में ग्रहण किया, किन्तु शीघ्र ही उन्होंने विचार किया कि खड़ीबोली को भी ब्रजभाषा के माधुर्य से अनुप्राणित करके काव्य-भाषा के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इसी कारण उन्होंने खड़ीबोली को स्वीकार कर उसी में काव्य-रचना आरम्भ कर दी।

प्रसादजी ने हिन्दी-साहित्य में अनेक काव्य-ग्रन्थों का प्रणयन किया है। काल-क्रम के अनुसार इन्हें हम इस रूप में रख सकते हैं—चित्राधार, कानन-कुसुम, करुणालय, महाराणा का महत्व, प्रेम-पथिक, झरना, आँसू, लहर, कामायनी। प्रस्तुत निबन्ध में हम प्रसादजी की इन्हीं कृतियों का क्रमानुसार अध्ययन करेंगे।

चित्राधार

'चित्राधार' स्वतन्त्र रूप से कोई काव्य-ग्रन्थ न होकर प्रसादजी की किशोर अवस्था में लिखित गद्यात्मक एवं ब्रजभाषा की पद्यात्मक रचनाओं का संग्रह मात्र है। इसमें संगृहीत रचनाएँ प्रायः 'इन्दु' में प्रकाशित हो चुकी थी। इस संग्रह के पाँच भाग हैं। प्रथम भाग में द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक कविताओं से प्रभावित होकर लिखी गई 'उर्वशी', 'वन-मिलन', 'प्रेम-राज्य', 'अयोध्या का उद्धार' आदि प्रबन्ध-कविताएँ हैं तथा द्वितीय एवं तृतीय भागों में एकांकी, पौराणिक गाथाएँ, निबन्ध आदि हैं। 'पराग' नामक चौथे भाग में कवि ने प्रकृति को आलम्बन-रूप में ग्रहण करते हुए स्वतन्त्र कविताएँ लिखी हैं, जिनसे स्पष्ट है कि कवि के हृदय में प्रकृति-प्रेम प्रारम्भ से ही विद्यमान था। प्रभात-कुसुम, सन्ध्या तारा, चन्द्रोदय आदि

कविताएँ इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। ये कविताएँ अत्यन्त भावपूर्ण एवं चित्ताकर्षक हैं। अन्तिम भाग 'मकरन्द-बिन्दु' में समस्या-पूर्ति के ढंग के कवित्तों, सवैयों व पदों का सकलन किया गया है। इनमें से कुछ में प्रकृति-वर्णन है, कतिपय शृंगार-मंडित हैं और शेष में भक्तिपरक भाव व्यक्त हुए हैं। इन सभी कविताओं में प्रसादजी की तीव्र अनुभूति के दर्शन होते हैं तथा ये कवि के प्रारम्भिक विकास को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने में सहायक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसादजी इस संग्रह की भाषा के लिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और पं० श्रीधर पाठक के ऋणी हैं। उनके काव्यों की भाषा के अनुकूल ही 'चित्राधार' में भी ब्रज एवं खड़ीबोली मिश्रित सरल भाषा का प्रयोग किया गया है। कवि की प्रारम्भिक रचनाएँ होने के कारण ये कविताएँ अधिकांशतः इतिवृत्तात्मक हैं और इनमें भावों की गम्भीरता अथवा कलात्मक अभिव्यंजना का प्रौढ़ रूप नहीं मिलता।

कानन-कुसुम

'कानन-कुसुम' में प्रसादजी की सम्वत् १९६६ से १९७४ तक की स्फुट प्रारम्भिक रचनाओं का संग्रह है। इस संग्रह की कविताओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(अ) प्रकृतिपरक कविताएँ, (आ) वर्णनात्मक कविताएँ। प्रकृतिपरक कविताओं में नव बसन्त, जलद, आवाहन, रजनीगन्धा, सरोज, कोकिला आदि विषयों पर लिखी गईं कविताएँ उल्लेखनीय हैं, तथा आख्यानात्मक कविताओं में 'चित्रकूट', भरत', 'शिल्पसौन्दर्य', 'कुरुक्षेत्र', 'वीरबालक', 'श्रीकृष्ण जयन्ती' आदि की गणना की जा सकती है। ये आख्यानात्मक कविताएँ पौराणिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित हैं। इस संग्रह में कवि ने कतिपय मौलिक स्थापनाएँ भी की हैं। सौन्दर्य के विषय में एक स्थान पर कहा गया है कि सौन्दर्य वस्तु विशेष में न होकर दर्शकों [illegible] प्राप्त होता है—'किन्तु प्रिय-दर्शन स्वयम् सौन्दर्य है।'

ये कविताएँ ब्रजभाषा एवं खड़ीबोली, दोनों में लिखी गई हैं। पाठक को इस संग्रह में साधारण एवं उत्तम, दोनों कोटि की रचनाएँ प्राप्त होती हैं। भाव की दृष्टि से इनमें कुछ ऐसी रचनाएँ हैं, जिन में द्विवेदी-काल की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं, और कुछ ऐसी हैं जिनमें छायावादी प्रवृत्तियों का जन्म हुआ है। यह ज्ञातव्य है कि प्रसादजी के जीवन-काल में ही 'कानन-कुसुम' के तीन संस्करण क्रमशः संवत् १९७०, १९७१, १९८६ में प्रकाशित हो चुके थे। प्रारम्भ में इसमें कुछ कविताएँ ब्रजभाषा की भी थीं, किन्तु तीसरे संस्करण में केवल खड़ीबोली की रचनाएँ रखी गईं और शेष का अन्तर्भाव 'चित्राधार' में कर दिया गया।

अन्यत्र बताया जा चुका है कि प्रसादजी अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रभावित रहे हैं। 'कानन-कुसुम' में भी यह प्रभाव रहा है।

भारतेन्दु बाबू की कृति 'मधु-मुकुल' और इधर 'कानन-कुसुम' के समर्पण-पृष्ठ में भी भाव व आकार की दृष्टि से अद्भुत साम्य है। देखिए—

'मधु-मुकुल' का समर्पण :

"हृदयवल्लभ !

यह मधु-मुकुल तुम्हारे चरण-कमल में समर्पित है, अंगीकार करो। इसमें अनेक प्रकार की कलियाँ हैं, कोई छिपी हुई सुगन्ध लिये, किन्तु प्रेम-सुवास के अतिरिक्त और किसी गंध का लेश नहीं। तुम्हारे कोमल चरणों में यह कलियाँ कहीं गड़ न जायें, यही सन्देह है। तथापि तुम्हारे बाग के फूल तुम्हें छोड़ और कौन अंगीकार कर सकता है, इससे तुम्हीं को समर्पित हैं।

तुम्हारा—
हरिश्चन्द्र"

'कानन-कुसुम' का समर्पण

"प्रियतम !

जो उद्यान से चुन-चुन कर हार बनाकर पहनते हैं, उन्हें 'कानन-कुसुम' क्या आनन्द देंगे ? यह तुम्हारे लिए है। इसमें रंगीन और सादे, सुगन्ध वाले और निर्गन्ध, मकरन्द से भरे हुए, पराग में लिपटे हुए, सभी तरह के कुसुम हैं। असंयत भाव से एकत्र किये गए हैं। भला ऐसी वस्तु को तुम न ग्रहण करोगे तो कौन करेगा ?

तुम्हारा—
'प्रसाद' "

करुणालय

'करुणालय' (सन् १९१३) अरिल्ल नामक तुकान्तहीन मात्रिक छन्द में लिखा गया हिन्दी का सर्वप्रथम भावनाट्य है और इसमें प्रसादजी की स्वच्छन्द मनोवृत्ति के दर्शन होते हैं। विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र सम्बन्धी कथा का आधार लेकर यज्ञों में होने वाली नर-बलि के विरुद्ध घृणा प्रदर्शित करने के लिए इसमें धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचारों की कटु आलोचना की गई है। इसकी भाषा अपेक्षाकृत प्रांजल है तथा इसमें गीतात्मकता के अतिरिक्त नाटकीयता को भी सुरक्षित रखा गया है। इसका विभाजन पाँच दृश्यों में किया गया है। पात्रों के संवाद-वाक्यों में सजीवता व गति है तथा प्रकृति के चित्रों में भावात्मकता के दर्शन होते हैं। फिर भी समग्र रूप से इस कृति में नाटकीय गुणों का अभाव रहा है।

'करुणालय' का प्रकाशन सर्वप्रथम सन् १९१३ मे प्रसाद जी ने अपनी पत्रिका 'इन्दु' मे किया था। तदुपरान्त इसे 'चित्राधार' के प्रथम संस्करण मे सम्मिलित किया गया और पुन सन् १९२८ मे इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप मे प्रकाशित किया गया।

महाराणा का महत्त्व

यह ऐतिहासिक कथा-काव्य सर्वप्रथम सन् १९१४ मे 'इन्दु' मे प्रकाशित हुआ था। इसके उपरान्त इसे 'चित्राधार' मे संकलित किया गया और सन् १९२८ में स्वतन्त्र कृति के रूप मे इसका प्रकाशन कर दिया गया। 'करुणालय' के समान यह खण्ड-काव्य भी अन्त्यानुप्रासहीन है और अरिल्ल छन्द मे लिखा गया है। इसका कथानक पाँच नाटकीय दृश्यो मे विभाजित है। दृश्य-परिवर्तन का संकेत '×' चिह्न द्वारा किया गया है। दूसरे एव तीसरे भागो के प्रारम्भ में प्राकृतिक सुषमा के आकर्षक चित्र हैं। यद्यपि 'प्रसाद' अपने कोमल प्रकृति-चित्रण के लिए विख्यात हैं, तथापि इसमे कामायनी की भाँति प्रकृति के भीषण रूप को भी ग्रहण किया है—

"प्रबल प्रभंजन वेगपूर्ण था चल रहा।
हरे-हरे द्रुम-दल को खूब लपेटता।"

भाषा एव भावो का निर्बाध प्रवाह ही इस खण्ड-काव्य की विशेषता है। इतिवृत्तात्मक शैली मे लिखी गई इस छोटी-सी रचना मे नवीन उपमानों का भी सुन्दर प्रयोग किया गया है। राजपूतो के आगमन को लू के समान कह कर कवि ने इसी ओर संकेत किया है ""लू समान कुछ राजपूत भी आ गये।" 'महाराणा का महत्त्व' की रचना करते समय प्रसादजी का मूल उद्देश्य भारतीय शौर्य एव देश-प्रेम के प्रतीक महाराणा प्रताप की महत्ता का प्रतिपादन करना रहा है। अपने उद्देश्य मे वे पूर्णरूपेण सफल रहे हैं। एक विदेशी के मुख से प्रताप का यशोगान करा कर इसी उद्देश्य की पूर्ति की गई है—

"सच्चा सायक है सपूत निज देश का,
मुक्त पवन मे पला हुआ वह वीर है।"

इसी प्रकार अरावली की घाटी मे युद्ध के समय महाराणा प्रताप के सैनिकों द्वारा बन्दी बनाई गई बेगम को सम्मानपूर्वक नवाब साहब के पास भिजवा देने के प्रसग का निरूपण करके भी महाराणा प्रताप की उदाराशयता का प्रतिपादन किया गया है।

प्रेम-पथिक

इस प्रेमकथात्मक खण्डकाव्य की रचना सन् १९१५ मे ब्रजभाषा मे हुई थी। उस समय इसमें १३६ पंक्तियाँ थी, किन्तु कुछ समय पश्चात् इसे खड़ीबोली में

परिवर्तित एवं परिवर्धित कर दिया गया। मूल 'प्रेम-पथिक' में कवि ने नायक-नायिका के रूप में किशोर और चमेली नाम लिए थे, किन्तु खड़ीबोली वाले संस्करण में ये नाम हटा कर सामान्य रूप मे प्रेम-पथ का वर्णन किया गया है। 'प्रेम-पथिक' की वर्तमान प्रति में २७० पंक्तियाँ हैं, जिनमें प्रेम की महत्त्व एवं गूढ़ व्याख्या की गई है। प्रेम की व्याख्या करते हुए कवि ने कहा है—

"पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए।
प्रेम-यज्ञ मे स्वार्थ और कामना हवन करना होगा।
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे।"

भाव-विकास की दृष्टि से 'प्रेम-पथिक' कवि के श्रेष्ठ काव्यों मे गिना जाता है। इसकी कथा प्रभावपूर्ण एवं आकर्षक है जिसमें प्रेम, सेवा एवं त्याग के आदर्श चित्र हैं। यहाँ प्रेम को कवि ने विराट् रूप मे ग्रहण करते हुए उसे विश्व-प्रेम का प्रतीक माना है। इस प्रकार इस कृति में विश्व को प्रियतम ईश्वरमय और ईश्वर को प्रेम और सौन्दर्यमय माना गया है।

तुकान्तहीन मात्रिक छन्द का प्रयोग करते हुए इस काव्य में प्रसादजी ने अमूर्त एवं सर्वथा नवीन उपमानो की कल्पना की है—"फैला था उल्लास सदृश आलोक।" भाषा-माधुर्य की दृष्टि से भी 'प्रेम-पथिक' पूर्ववर्ती कृतियों की अपेक्षा सफल है। कलात्मकता, प्रवाह, माधुर्य और संगीतात्मकता उसके विशेष गुण हैं।

झरना

'झरना' मे प्रसादजी की सन् १९१६ से सन् १९१९ तक की रचनाएँ हैं जिनमें उन्होंने स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म भावो को प्रकट किया है। इसका प्रथम संस्करण संवत् १९७५ में प्रकाशित किया गया था। उस समय इसमें केवल २५ कविताएँ थी। कालान्तर मे इसमे ३१ कविताएँ रखी गई और संवत् १९८४ में तृतीय संस्करण में इसकी कविताओं की कुल संख्या ५५ कर दी गई। इतिवृत्तात्मकता से हटकर इस संग्रह में प्रथम बार लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक शैली में मनोभावो की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। सूक्ष्म भावों की स्वीकृति के कारण हिन्दी में छायावाद का प्रारम्भ इसी कृति से माना गया है। इस सम्बन्ध में आलोच्य पुस्तक के प्रकाशक का वक्तव्य द्रष्टव्य है—"जिस शैली की कविता को हिन्दी में आज दिन छायावाद का नाम मिल रहा है, उसका प्रारम्भ प्रस्तुत संग्रह द्वारा ही हुआ था।"[1] 'झरना' शब्द प्रकृति का प्रतीक है। किन्तु इस संग्रह में प्राकृतिक सुषमा का चित्रण करने वाली कविताएँ

---

१. 'झरना' मे प्रकाशक का 'निवेदन'

अधिक नहीं हैं। 'पावस-प्रभात' इस प्रकार की कविताओं में विशेष उल्लेख्य है, जिसमें कवि ने प्रकृति का मानवीकरण किया है—

"रजनी के रञ्जक उपकरण बिखर गये,
घूँघट खोल उषा ने झाँका और फिर—
अरुण अपांगों से देखा, कुछ हँस पड़ी।
लगी टहलने प्राची प्रांगण में तभी।"

वास्तव में प्रकृति-चित्रण की अपेक्षा कवि प्रेम, विरह एवं सुख-दुःख की व्याख्या में निमग्न है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि कवि ने इसे यौवन-काल में लिखा है, जिस समय उसका मन स्थिर नहीं होता। प्रसादजी ने स्वयं अपनी दुर्बलता को 'मध्यस्थित' शीर्षक कविता में इस प्रकार स्वीकार किया है—

"करता हूँ जब कभी प्रार्थना कर संकलित विचार,
तभी कामना के नूपुर की हो जाती झंकार।"

'झरना' में श्रेष्ठ और साधारण, दोनों प्रकार की रचनाएँ हैं। 'किरण', 'बिखरा हुआ प्रेम', 'विषाद', 'बालू की बेला' आदि उच्चकोटि की काव्य-रचनाओं के अन्तर्गत आती हैं। छायावादी काव्य की प्रारम्भिक कृति होने पर भी इस संग्रह में उसकी भाव एवं शैली-गत सभी विशेषताएँ उपलब्ध हैं। प्रकृति का मनोरम एवं मानवीकृत रूप, अज्ञात सत्ता की ओर संकेत, शृंगार की अभिव्यक्ति, लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक मधुर शब्दावली आदि इसकी प्रायः सभी कविताओं में सहज उपलब्ध हैं।

आँसू

'आँसू' प्रसादजी का प्रौढ़ावस्था में लिखा गया आत्माभिव्यंजनात्मक विरह-काव्य है। इसमें उन्होंने आँसू के माध्यम से अपनी वेदना को प्रकट करते हुए विप्रलम्भ शृंगार का प्रयोग किया है। इसका प्रथम प्रकाशन सन् १९२५ में हुआ था, किन्तु छन्द-संख्या में वृद्धि और उनके क्रम में परिवर्तन करने के उपरान्त सन् १९३२ में इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। प्रथम संस्करण में केवल २५२ पंक्तियाँ थीं, जो बाद में ३८० कर दी गई। कुछ आलोचक 'आँसू' के लौकिक प्रेम से सम्बन्ध रखने वाले कथानक को आध्यात्मिक अथवा रहस्यवाद की संज्ञा प्रदान करना चाहते हैं। उनके अनुसार इस काव्य में ईश्वर को ही सम्बोधित किया गया है। किन्तु इसमें यत्र-तत्र प्रयुक्त 'महामिलन', 'अज्ञात प्रियतम' आदि शब्दों के कारण ही 'आँसू' को रहस्यवादी भावनाओं के बन्धन में नहीं बाँधा जा सकता। वास्तव

में कवि ने 'झरना' में जिस प्रेम-पात्र के दर्शन किये थे—

"निर्दय होकर अपने प्रति, अपने को तुमको सौंप दिया।
प्रेम नहीं करुणा करने को, क्षण भर तुमने समय दिया।"[1]

उसी के वियोग में उसने इस सफल गीति-काव्य की रचना की है। 'आँसू' अपने मूल रूप में लौकिक प्रेम का उद्घाटन करता है, किन्तु इसके द्वितीय संस्करण में इस लौकिक प्रेम को आध्यात्मिक बनाने का प्रयत्न किया गया है। निम्नांकित उद्धरण इसके प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किया जा सकता है—

"शशि मुख पर घूँघट डाले, अँचल में दीप छिपाए।"

इस पंक्ति में 'अंचल' नारी-शृंगार का द्योतक है, किन्तु इसे आध्यात्मिकता प्रदान करने के लिए द्वितीय संस्करण में 'अन्तर में' करना पड़ा। इस प्रकार इसमें उन्होंने अपने लौकिक प्रेम का ही उद्घाटन किया है। प्रेमी-प्रेमिका के प्रणय-व्यापार का चित्रांकन करने वाला निम्नांकित पद इसका प्रमाण है—

"परिरम्भ कुम्भ की मदिरा, निश्वास मलय के झोंके।
मुख-चन्द्र चाँदनी जल से, मैं उठता था मुँह धो के।"

'आँसू' में प्रतीकों का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया गया है। प्रतीक-विधान ही उसके रूपकत्व का भार वहन करता है। इसके अधिकांश प्रतीक प्रकृति से लिए गए हैं। झंझा, विद्युत्, नीरदमाला आदि प्रतीकात्मक शब्द इसी ओर संकेत करते हैं, जिन्हें कवि ने वेदना के प्रतीक-स्वरूप ग्रहण किया है। मानव-जीवन के लिए 'प्याली' को प्रतीक मानकर प्रसादजी ने कितनी सुन्दरतापूर्वक उसका प्रयोग किया है—

"मानस का सब रस पी कर, लुढ़का दी तुमने प्याली।"

प्रसादजी की यह काव्य-कृति इतनी प्रसिद्ध हुई कि इसकी शैली से प्रभावित होकर श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने इसमें प्रयुक्त छन्द को 'आँसू छन्द' का नवीन नाम ही दे दिया।[2] 'आँसू' की रचना-शैली प्रसादजी की पूर्ववर्ती कृतियों की अपेक्षा काफी प्रौढ़ है और छायावादी शैली का प्रतिनिधित्व इसमें सफलतापूर्वक हुआ है। कवि का प्रेम इस कृति में धीरे-धीरे दार्शनिक रूप ग्रहण कर लेता है, इस कारण यह ग्रन्थ आद्योपान्त रहस्यात्मकता के आवरण से आच्छादित है।

---

१. झरना, पृष्ठ ३०
२. नवीन पिंगल (प्रथम संस्करण), पृष्ठ १४४

लहर

'लहर' मानव-हृदय में उठने वाली मानसिक तरंगों का प्रतीक है। सवत् १६६० में प्रकाशित यह काव्यकृति स्वतन्त्र प्रबन्धात्मक रचना न होकर कवि की प्रेम और यौवन पर लिखी गई कविताओं का सग्रह है। प्रेम और यौवन के अतिरिक्त इन कविताओं में प्रसादजी ने सौन्दर्य, प्राकृतिक शोभा, वियोग, दार्शनिक चिन्तन तथा रहस्यपूर्ण मिलन का भी भावपूर्ण चित्रण किया है। प्रौढावस्था में लिखी जाने के कारण यह सर्वगुण-सम्पन्न कृति है। अन्तिम चार वर्णनात्मक कविताओं को छोड़ कर शेष सभी कविताएँ सगीतात्मक हैं। बौद्ध-दर्शन का प्रभाव भी प्रसादजी की कृतियों में मिलता है। प्रस्तुत सग्रह भी इसका अपवाद नहीं है। 'अशोक की चिन्ता', 'अरी वरुणा की शान्त कछार', 'जगती की मगलमयी उषा बन' आदि कविताओं में इसे देखा जा सकता है। देश-प्रेम तथा ऐतिहासिक तथ्यों के उद्घाटन की ओर भी प्रसादजी की रुचि रही है। इस कृति में 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' तथा 'प्रलय की छाया' शीर्षक रचनाएं इसी प्रकार की हैं।

प्रस्तुत सग्रह की कुछ कविताएँ कवि के व्यक्तिगत जीवन पर भी प्रकाश डालती हैं। 'आह रे वह अधीर यौवन', 'तुम्हारी आँखों का बचपन', 'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे' आदि कविताएँ इसी वर्ग की हैं। प्रेमचन्द के निमन्त्रण पर 'हस' के आत्मकथाक में भेजी गई इसी प्रकार की स्वपरक निम्नलिखित रचना में यह स्पष्ट है कि उन्होंने किसी से प्रेम किया था, किन्तु उसमें वे सफल न हो सके—

"मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया।
आलिंगन में आते आते, मुसक्या कर जो भाग गया।"

इस सग्रह की कविताओं में प्रसादजी ने कहीं तो प्रकृति का सरल एव आलम्बन रूप में वर्णन किया है तथा कहीं प्रकृति के माध्यम से जीवन-मरण के रहस्य को सरल रूप में प्रस्तुत किया है। यथा—

"मिलने चलते जब दो कन, आकर्षणमय चुम्बन बन।
दल के नस नस में बह जाती, लघु लघु धारा सुन्दर।"

'लहर' में कुल ३३ कविताएँ सगृहीत हैं, जिनमें अन्तिम चार कविताओं (अशोक की चिन्ता, शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण, पेशोला की प्रतिध्वनि, प्रलय की छाया) को छोड़कर शेष प्रगीतात्मक हैं। मुक्तक प्रगीत की सभी विशेषताएँ उनमें पायी जाती हैं। अन्तिम चारों कविताएँ कवि की प्रबन्ध-पटुता की निदर्शन हैं, जो ऐतिहासिक कथानक के सहज विकास, कथोपकथन की त्वरा एव उक्ति-चमत्कार के कारण प्रमाता को प्रभावित करती हैं।

कामायनी

'कामायनी' कवि की अन्तिम काव्य-कृति है। यह चिन्ता, आशा, श्रद्धा काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य तथा आनन्द शीर्षक पन्द्रह सर्गों में विभक्त एक महाकाव्य है, जिसे प्रसादजी संवत् १६८५ से १६६२ तक सात वर्षों की अनथक साधना के बाद पूर्ण कर सके थे। इसकी कथा-वस्तु का मूल स्रोत पुराण हैं तथा इसमें आदिपुरुष मनु द्वारा सृष्टि के जन्म का इतिहास चित्रित किया गया है। 'कामायनी' की एक विशेषता यह है कि इसमें प्रकृति-चित्रण को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। प्रलय के समय समुद्र की भयंकरता तथा उसकी लहरों की भीषणता का जैसा चित्रण इस महाकाव्य में किया गया है, वह हिन्दी-काव्य में अनुपलब्ध है। प्रकृति का मानवीकरण भी द्रष्टव्य है—

"सिंधु-सेज पर धरा वधू अब, तनिक संकुचित बैठी-सी,
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में, मान किए-सी ऐंठी-सी।"

मूर्त उपमेयों के लिए अमूर्त एवं सर्वथा नवीन उपमान प्रस्तुत करने की भी प्रसादजी में विशेष प्रतिभा है। 'लहर', 'महाराणा का महत्त्व' आदि की भाँति 'कामायनी' में भी उनकी इस प्रतिभा के अपेक्षाकृत विकसित रूप में दर्शन होते हैं। एक सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है—"बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल।" 'कामायनी' में प्रसादजी ने नारी को श्रद्धामयी शक्ति के रूप में स्वीकार किया है—

"नारी! तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में।
पीयूष स्रोत-सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में।"

वास्तव में "बुद्धि के आधिक्य से पीड़ित हमारे युग को, प्रसाद का सबसे महत्त्वपूर्ण दान 'कामायनी' है—अपने काव्य-सौन्दर्य के कारण भी और अपने समन्वयात्मक जीवन-दर्शन के कारण भी।"[1]

उपसंहार

प्रसादजी की काव्य-कृतियों का सामूहिक रूप से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि वे परिवर्तनवादी विचारधारा के कवि थे। उन्होंने काव्य के क्षेत्र में ग्रहण की जानेवाली ब्रजभाषा को शीघ्र ही त्याग कर खड़ीबोली में काव्य-रचना प्रारम्भ की। भाषा के अतिरिक्त उन्होंने सवैया आदि प्राचीन छन्दों के स्थान पर अन्त्यानुप्रासहीन मात्रिक एवं मुक्तक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रचलन किया तथा वे स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करने की ओर उन्मुख रहे। अपनी प्रतिभा के बल पर उन्होंने हिन्दी-काव्य में जिन नई शैलियों को जन्म दिया है वे साहित्य में अन्यतम हैं। हिन्दी-साहित्य के ऐतिहासिक विकास-क्रम में उनका स्थायी योग रहेगा।

———

१. पथ के साथी, महादेवी वर्मा, पृष्ठ ७६

४

'कामायनी' का कथा-सार

प्रसादजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के मर्मज्ञ व्याख्याता ही नहीं थे वरन् उनके प्रति उनकी अपूर्व निष्ठा थी। अपनी सभी कृतियों में उन्होंने तत्सम्बन्धी विषयों को लेकर एक बार पुनः विगत को साकार रूप प्रदान करने का सफल प्रयास किया है। 'कामायनी' में भी उन्होंने मनु की बहुश्रुत, पौराणिक कथा को आधार बना कर इतिहास के साथ रूपक का सफल सगुम्फन कर, उसके माध्यम से मानव-सृष्टि का सर्वांगीण इतिहास अंकित किया है। संस्कृति के सत्-असत् पक्षों का पूर्ण विवेचन तथा मानव-मन की विभिन्न वृत्तियों के क्रमिक विकास का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने के अतिरिक्त तत्युगीन राजनीति एवं समाज की ओर भी संकेत किया है तथा अन्त में कवि ने समरसता की महत्ता प्रतिपादित की है। इस गूढ़-गम्भीर प्रतिपाद्य के कारण ही 'कामायनी' का कथानक किंचित् जटिल प्रतीत होता है।

'कामायनी' एक महाकाव्य है, अतः इसकी कथा भी व्यापक तथा विस्तृत है। कवि ने उसे १५ सर्गों में विभक्त किया है। प्रत्येक सर्ग में मानव-मन की एक विशेष वृत्ति का आकलन है और उसी के आधार पर उक्त सर्ग का नामकरण भी किया गया है।

(१) चिन्ता

'कामायनी' का प्रारम्भ 'चिन्ता' नामक सर्ग से होता है। भयंकर जलप्लावन के बाद आदिपुरुष मनु हिमालय के 'उत्तुंग शिखर' पर 'शिला की शीतल छाँह' में बैठे 'भीगे नयनों' से 'प्रलय प्रवाह' का निरीक्षण करते हुए देवताओं के विगत ऐश्वर्य-विलासपूर्ण जीवन पर विचार करते हैं। समस्त देव-सम्पत्ति विनष्ट हो चुकी है। मनु की नौका महामत्स्य के प्रबल थपेड़े द्वारा हिमालय के इस शिखर पर आ टकराई, अतः वे जलप्लावन के विध्वंसकारी दृश्यों के अकेले दर्शक होने के लिए बच गए।

विनाश के कारणों पर विचार करने पर मनु इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि देवता अपने विनाश का कारण स्वयं थे। अतुल वैभव, कीर्ति, दीप्ति, शोभा में

सम्पन्न देवजाति क्रमशः दम्भी, विलासी तथा उच्छृङ्खल हो गई और सुरा-सुन्दरी-साकी में लिप्त रहने लगी। यज्ञों में पशु-बलि के आधिक्य तथा अत्यधिक सुरा-पान से क्रोधित प्रकृति ने अपना आक्रोश प्रलयकारी वृष्टि के रूप में व्यक्त किया। इस जलप्लावन में सम्पूर्ण देवसृष्टि नष्ट हो गई। मनु इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि—

"स्वयं देव थे हम सब, तो फिर
क्यों न विशृंखल होती सृष्टि,
अरे अचानक हुई इसी से
कड़ी आपदाओं की वृष्टि।"

वे यह भी समझ गए कि स्वयं को अमर मानना देवताओं का मिथ्या दम्भ था क्योंकि अमरत्व नहीं वरन् मृत्यु ही सत्य है।

(कवि ने इस सर्ग में मानव-मन में सदैव सुषुप्त रूप से विद्यमान चिन्ता मनोभाव के उदय एवं विकास का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। प्रसादजी द्वारा वर्णित जल प्रलय तथा देवताओं के दम्भ की कथा की पुष्टि अन्य धर्मों के ग्रन्थों द्वारा भी होती है। इस सर्ग में कवि का जीवन-दर्शन भी मुखर है जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने मनु के मुख से कराई है।)

(२) आशा :

कुछ समय उपरान्त भीषण जलप्लावन घटने लगा तथा विस्तृत जलसमूह वाष्प-रूप में परिणत होने लगा। प्रभात होने के साथ ही सम्पूर्ण प्रकृति अपनी अनन्त सुषमा के साथ दृष्टिगोचर होने लगी। प्रकृति की विराटता तथा उसके अक्षय सौन्दर्य को देखकर मनु के हृदय में उस असीम अज्ञात शक्ति को जानने की उत्कंठा हुई जिसके आदेश से विश्व-देव सविता, पूषा, सोम आदि भी निरन्तर क्रियमाण रहते हैं तथा अखिल ब्रह्मांड जिसकी सत्ता स्वीकार करता है। प्रकृति का यह नव जागरण उन्हें अपने अस्तित्व के प्रति भी सचेत करता है, जिसे वे पूर्णत भूल चुके थे। वे उत्तुंग हिमशिखर से उतरकर एक विस्तृत गुफा में अपना निवास-स्थान बनाते हैं तथा अपना जीवन यज्ञ एवं चिन्तन में व्यतीत करने लगते हैं। वे यज्ञ से बचे हुए अन्न को कुछ दूर पर इस उद्देश्य से रख आते थे कि यदि उनके ही समान कोई अन्य प्राणी जीवित हो तो वह अपरिचित भी उक्त अन्न से तृप्त व पोषित हो सके।

एक रात को अकस्मात् निद्रा खुलने पर वे गुफा से बाहर आते हैं। धवल ज्योत्स्ना-स्नात्, प्रकृति की रमणीयता उनकी सुषुप्त वासना को जगा देती है। व्यथित मनु रात्रि से अपनी प्रेयसी का परिचय पाने का अनुरोध करते हैं।

(मानव-मन की आशा-वृत्ति का निरूपण करने के साथ-साथ कवि ने इस

सर्ग मे प्रकृति को उस भाव की जन्मदात्री तथा प्रेरक शक्ति स्वीकार किया है। प्रकृति के विभिन्न उपादानो का चित्रण कवि ने अत्यंत सजीव व मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। प्रसादजी ने मनु को यज्ञ-कर्म मे लीन दिखाकर मानव मात्र को निष्काम कर्म करने की प्रेरणा भी दी है।)

(३) श्रद्धा :

इस सर्ग का प्रारम्भ श्रद्धा के आगमन से होता है। निराश और उद्विग्न मनु को मौन बैठे देखकर वह उनका परिचय पूछती है। नील मेघो के चर्म मे अध-ढँकी, गौर-वर्ण की मंद-मंद स्मित से युक्त सुन्दरी श्रद्धा के अनिंद्य सौन्दर्य एवं उसकी मधुकरी-सी मधुर वाणी को सुनकर मनु पहले तो 'लुटे-से' देखने लगते हैं, तत्पश्चात् अपने को एक उद्भ्रान्त, निराश एवं असफल प्राणी कहकर श्रद्धा का परिचय पाने की उत्सुकता व्यक्त करते हैं।

श्रद्धा अपना परिचय देते हुए स्पष्ट करती है कि वह काम की पुत्री है तथा गन्धर्वों के देश मे ललित कलाओं का अभ्यास करने की इच्छा से आई थी। अकस्मात् भयंकर जलप्लावन से गन्धर्वों के देश के नष्ट हो जाने पर वह एकाकी तथा निरुपाय रह गई। मनु द्वारा परहितार्थ रखे अन्न के अवशिष्ट अन्न को देखकर तथा यह अनुमान लगाकर कि अभी 'भूत-हित-रत' कोई व्यक्ति जीवित है, वह उधर आ निकली। वह मनु से उनकी निराशा और उद्विग्नता का कारण पूछती है और काम की महत्ता बताती हुई उसे मंगलदायक तथा श्रेयस्कर सिद्ध करती है। सुख-दुख को जीवन के दो अनिवार्य पहलू बताकर वह मनु को उन्हें सहर्ष स्वीकार कर निरन्तर प्रगति-पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करती है। मनु को तब भी विचलित तथा द्विविधापन्न देखकर वह उन्हें सहयोग देने की इच्छा व्यक्त करती है तथा समस्त बिखरी शक्तियो का संयोजन कर पुनः कर्मरत होने के लिए प्रेरणा देती है—

"शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।"

(संवादात्मक शैली मे रचित यह सर्ग अपनी नाटकीयता, प्रवाह, ओज-स्विता, मार्मिकता तथा सजीवता मे अद्वितीय है। श्रद्धा का रूपचित्रण कवि ने छायावादी शैली मे किया है। 'आशा' सर्ग मे जिस निष्काम कर्म की ओर कवि ने संकेत किया था उसे इस सर्ग मे प्रतिपाद्य के रूप मे ग्रहण किया गया है तथा उसकी अभिव्यक्ति श्रद्धा के मुख से करायी है। वस्तुतः कवि का जीवन-दर्शन भी यही है।)

(४) काम :

'काम' सर्ग में प्रसादजी ने मानव-मन की मूल प्रवृत्ति—काम—का विवेचन किया है। अनिंद्य सुन्दरी युवती श्रद्धा द्वारा सहसा किये गए आत्म-समर्पण तथा उसके द्वारा दी गई प्रेरणाओं से चकित, स्तंभित मनु पुन: एक बार अतीत की ओर लौटते हैं तथा अपनी युवावस्था की मादकता और तज्जन्य मधुरता, निश्चिंतता एवं स्वच्छन्दता का स्मरण करते हैं। नक्षत्रों से भरे नील व्योम तथा शीतल ज्योत्स्ना विकीर्ण करते चन्द्र एवं ज्योत्स्ना-स्नात् प्रकृति की सुषमा उनके हृदय में पुन. उस सौन्दर्य के नियामक को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न करती है। उन्हें नील मेघों में ढँकी श्रद्धा नील आवरण में छिपी सौन्दर्य की अक्षय निधि ही प्रतीत होती है। पर अपनी अस्थिरचित्त प्रवृत्ति के कारण मनु श्रद्धा द्वारा किये गए आत्म-समर्पण तथा उसकी प्रेरणाओं के विपरीत प्रवृत्ति मार्ग का अनुसरण न करने का ही संकल्प करते हैं—

"जो कुछ हो, मैं न सम्हालूँगा
इस मधुर भार को जीवन के;
आने दो कितनी आती हैं
बाधायें दम संयम बन के।"

उन्हें तन्द्रा घेर लेती है। स्वप्न में काम, जिसने प्रारम्भ में रति के साथ देवताओं में अबाध वासना की सृष्टि की थी, पर जो अब देव-संस्कृति के विनाशोपरान्त अनंग होकर विचरण कर रहा था तथा उनकी प्रगति बनकर उऋण होना चाहता था, मनु को दिखाई देता है और उन्हें पवित्र, कोमल तथा अतिशय सुन्दरी श्रद्धा को अपनाकर जीवन को पूर्णता प्रदान करने की सम्मति देता है—

"जड़-चेतनता की गाँठ वही
सुलझन है भूल-सुधारों की।
वह शीतलता है शांतिमयी
जीवन के उष्ण विचारों की।
उसको पाने की इच्छा हो
तो योग्य बनो..................।"

मनु उससे अक्षयनिधि के समीप पहुँचने की दिशा जानना चाहते हैं पर काम की वह स्वप्निल मूर्ति उन्हें द्विविधा में छोड़कर अन्तर्ध्यान हो जाती है।

(इस सर्ग में कवि ने मनु के हृदय के अन्तर्द्वन्द्व को वाणी दी है। इसके लिए उन्हें प्रकृति का चित्रण जिस प्रतीकात्मक शैली में करना पड़ा है उसमें छायावादी लाक्षणिकता, सूक्ष्मता एवं कलात्मकता के दर्शन होते हैं। स्वप्न में मनु के हृदय में

कामवासना का उदय दिखाकर आगे उसके विकास को चित्रित करने के लिए उपयुक्त मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया गया है। मानव-मन की इस मूल वृत्ति के उभय पक्षों का चित्रांकन करके कवि ने अपनी समन्वयवादी कला-शक्ति का परिचय दिया है।)

(५) वासना :

मनु को प्रवृत्ति मार्ग पर प्रेरित करके श्रद्धा उनके साथ सहयोगी के रूप में निवास करने लगी तथा प्रत्येक कार्य में उनका हाथ बँटाने लगी। परन्तु दोनों व्यक्तिगत रूप से अभी भी परस्पर अनजान ही बने रहे और उनके हृदय एक-दूसरे से अपरिचित ! पशु के छौने को दुलार से खिलाती हुई श्रद्धा को अपने प्रति उदासीन देखकर मनु क्षोभ से भर जाते हैं। श्रद्धा उनके मनोभाव को ताड़ जाती है और अपने मादक स्पर्श से उन्हें पुलकित कर देती है। मनु श्रद्धा से उसके इस दुहरे व्यक्तित्व का (बाहर से कोमल परन्तु अन्दर से कठोर) रहस्य जानना चाहते हैं। श्रद्धा उनको शान्त करने के उद्देश्य से प्रकृति का सौन्दर्य दिखाने ले जाती है परन्तु वे शान्त होने के स्थान पर और अधिक उत्तेजित हो जाते हैं तथा श्रद्धा से समर्पण करने का अनुरोध करते हैं। नारी-सुलभ स्वभाव से विवश श्रद्धा मनु को समर्पण कर देती है, साथ ही मन की द्विविधा भी व्यक्त करती है—

"किन्तु बोली, क्या समर्पण आज का हे देव !
बनेगा चिर बंध नारी हृदय हेतु सदैव।
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान—
वह, जिसे उपभोग करने में विकल हों प्रान ?"

(इस सर्ग में कवि ने अत्यन्त नाटकीय ढंग से, प्रकृति की रमणीय पीठिका पर मनु तथा श्रद्धा का मिलन कराया है। संवाद-योजना मार्मिक, स्वाभाविक तथा सुन्दर है। प्रकृति उद्दीपन के रूप में चित्रित की गई है। अलंकारों के यथोचित प्रयोग में कवि प्रणय के स्वाभाविक एवं मर्मस्पर्शी चित्रांकन में सफल रहा है।)

(६) लज्जा :

मनु के समक्ष आत्मसमर्पण करने के बाद श्रद्धा का जीवन परिवर्तित हो जाता है। उसके आचरण की स्वच्छन्दता तथा विचारों की उन्मुक्तता का स्थान लज्जा एवं संकोच की भावना ले लेती है। श्रद्धा स्वयं इस परिवर्तन पर विस्मित है। छाया मूर्ति के रूप में लज्जा आकर उसे अपना परिचय देती है तथा प्रणय-मार्ग की जटिलता का आभास कराती है। श्रद्धा उससे अपने मन की दुर्बलता बताती हुई कहती है—

"इस अर्पण में कुछ और नहीं
केवल उत्सर्ग छलकता है,

मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ
इतना ही सरल झलकता है।"

वह लज्जा से अपने लिए उचित मार्ग-निर्देश का अनुरोध करती है। लज्जा उसे पूर्ण आत्मसमर्पण करके मनु के साथ सुखी दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने की सम्मति देते हुए कहती है—

"नारी! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में;
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।"

(लज्जा का मानवीकरण करके कवि ने श्रद्धा व लज्जा के पारस्परिक संवादों के माध्यम से नारी-जीवन का सम्यक् निरूपण किया है। नारी की अन्तर्वृत्तियों के मनोवैज्ञानिक निरूपण में कवि सिद्धहस्त है। भाषा, भाव, अलंकार सभी दृष्टियों से यह सर्ग उत्तम है। सम्भवतः इसीलिए इसमें कथा-तत्त्व की न्यूनता भी खटकने वाली प्रतीत नहीं होती।)

(७) कर्म :

पूर्व देव-संस्कारों, काम के संदेश तथा श्रद्धा द्वारा दी गई कर्म की प्रेरणा से मनु यज्ञ करने, सोमपान करने तथा आनन्दोत्सव मनाने में लीन हो गए। प्रलय के प्रकोप से बचे हुए आकुलि और किरात नामक असुर पुरोहित भी मनु को इसके लिए अधिकाधिक प्रेरित करने लगे तथा स्वयं पुरोहित बनने के लिए तत्पर हो गए। उनकी प्रेरणा पाकर मनु ने न केवल वृहद् यज्ञ का अनुष्ठान किया अपितु श्रद्धा के पालित पशु का वध भी कर दिया। बलिवेदी के भीषण दृश्य, पशु की मार्मिक चीत्कार तथा हिंसा के भयंकर तांडव से आहत श्रद्धा यज्ञ-कर्म में सहयोग नहीं देती तथा अपनी गुफा में उदास लेटी हुई मनु की इस बर्बरता पर विचार करती रहती है। यज्ञ-कर्म के पूर्ण होने पर मनु पुरोडाश खाकर सोम का पान करते हैं तथा गुफा में जाकर रूठी श्रद्धा को मनाने का यत्न करते हैं। श्रद्धा उनके हिंसात्मक कार्यों की आलोचना करती है तथा एकान्त स्वार्थ व आनन्द से ऊपर उठकर उन्हें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श अपनाने की सम्मति देती है।

मनु श्रद्धा को दुखी एवं उद्विग्न देखकर भविष्य में उसके बताए पथ का अनुसरण करने की प्रतिज्ञा करते हैं। तब दोनों सोमरस का पान करते तथा समस्त मनोमालिन्य को भूलकर आनन्दभोग करते हैं।

(कवि ने इस सर्ग में परदुःखकातरता, उदारता, अहिंसा आदि उत्कृष्ट मानवीय गुणों के विकास पर बल दिया है जिसे हम सामाजिक स्तर पर गांधीदर्शन

तथा धार्मिक धरातल पर वैष्णव धर्म का प्रभाव मान सकते हैं। मनु तथा श्रद्धा के मन्तर्द्वन्द्व का भी सजीव चित्रांकन कवि ने किया है। भाषा सजीव, सुगठित, परिपक्व तथा प्रौढ़ है, अलंकार-योजना प्रभावपूर्ण तथा भावव्यंजना मार्मिक है। संवादों की उत्कृष्ट योजना से सर्ग में नाटकीयता की सृष्टि हुई है।)

(८) ईर्ष्या

मनु के अनुरोध पर श्रद्धा ने आत्मसमर्पण तो कर दिया परन्तु वह क्षणिक भावावेश ही उनके लिए सदैव का बंधन बन गया। वह मनु के साथ एक न टूटने वाले बंधन में बँध जाती है। उधर मनु श्रद्धा को दिये गए वचनों को विस्मृत कर सारा समय मृगया में व्यतीत करने लगे। उन्हें ऐसा लगता था कि श्रद्धा उनकी उपेक्षा करती है तथा उनसे उदासीन रहती है, अतः उसका निश्छल रूप से किया गया परिहास भी उन्हें अरुचिकर लगता था। एक दिवस मृगया से देर में लौटने पर श्रद्धा उनसे विलम्ब का कारण पूछती है और अपनी गृहस्थी से उदासीन रहने पर उलाहना देती है। उत्तेजित मनु श्रद्धा से अपने प्रति उदासीनता का कारण पूछते हैं। वह श्रद्धा से केवल बीज चुनने, ऊन कातने तथा कपड़ा बुनने में व्यस्त रहने का कारण भी पूछते हैं। उत्तर में श्रद्धा उन्हें अपनी गर्भावस्था से अवगत कराने के लिए गुफा के कोने में नवनिर्मित कुटीर तथा नीड़ दिखाती है और अपने भावी शिशु के विषय में सुन्दर कल्पनाएँ करती है। इसी प्रसंग में वह मनुष्य को हिंसा न करने के लिए कहती है—

"अपनी रक्षा करने में जो
चल जाय तुम्हारा कहीं अस्त्र;
वह तो कुछ समझ सकी हूँ मैं—
हिंसक से रक्षा करे शस्त्र।
पर जो निरीह जीकर भी कुछ
उपकारी होने में समर्थ,
वे क्यों न जियें, उपयोगी बन
इसका मैं समझ सकी न अर्थ।"

मनु उसके तर्कों को निराधार सिद्ध करते हैं। वे ईर्ष्यावश भावी शिशु को ही श्रद्धा की अपने प्रति विरक्ति का कारण समझ कर गर्भवती श्रद्धा को छोड़कर चल देते हैं—

"तो चला आज मैं छोड़ यहीं
संचित संवेदन-भार-पुंज,
मुझको काँटे ही मिलें धन्य!
हो सफल तुम्हें ही कुसुम-कुंज।"

श्रद्धा की "रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही" की कातर पुकार भी उन्हें लौटाने में असफल रहती है।

(इस सर्ग में कवि का उद्देश्य नारी की तुलना में पुरुष की निर्ममता, कठोरता, स्वार्थपरता को प्रकट करना है। जहाँ नारी ममता, त्याग, प्रेम और वात्सल्य की प्रतिमूर्ति है, वहाँ पुरुष एकान्त स्वार्थ व सुख की लिप्सा से युक्त निर्मम तथा निष्ठुर प्राणी होता है। मनु अपने इसी स्वार्थ की पूर्ति के लिए श्रद्धा को गर्भवती छोड़कर चले जाते हैं। पिछले सर्ग की भांति ही गांधीवादी दर्शन एवं वैष्णव धर्म के प्रभावस्वरूप कवि ने अहिंसा, परदुखकातरता आदि पर बल दिया है। आदिमानव के जीवन में आने वाले क्रमिक उत्थान का चित्रण भी कवि ने बड़ी कुशलता से किया है। संवाद मार्मिक होने के साथ ही साथ पात्रों के चरित्र को प्रकाशित करने वाले हैं।)

(९) इड़ा :

मानसिक उद्विग्नता से ग्रस्त, संघर्षों से जर्जरित मनु एकाकी भटकते हुए सरस्वती नदी के तट पर स्थित देवसंस्कृति के केन्द्र सारस्वत नगर में पहुँचते हैं। परन्तु वह अब भौतिक हलचलों से ध्वस्त होकर अपना सारा सौन्दर्य खो बैठा था। मनु को देवताओं के विध्वंस तथा देवासुर संग्राम का स्मरण हो आता है और श्रद्धा का अभाव उनके हृदय में चुभने लगता है। इतने में काम की शाप भरी वाणी उन्हें सुनाई देती है। काम मनु को दम्भी, स्वार्थी, विश्वासघाती तथा प्रवचक कहकर उन्हें ममता एवं विश्वासमयी श्रद्धा को इस प्रकार छोड़ने पर लांछित करता है। वह उन्हें यावत् जीवन संघर्षग्रसित रहने और सद्‌भावना एवं सहानुभूति के लिए तरसते रहने का शाप देता है तथा भविष्यवाणी करता है कि उनके द्वारा स्थापित प्रजातन्त्र अभीष्ट-पूर्ति में सहायक न होकर अनिच्छित कष्ट का कारण बनेगा। मनु उक्त वाणी को सुनकर स्तम्भित रह जाते हैं और भविष्य की आशंकाओं से चिन्ताओं में डूब जाते हैं।

प्रातःकाल होने पर उन्हें अनिंद्य सुन्दरी तथा बुद्धिमती इड़ा के दर्शन होते हैं। इड़ा बताती है कि वह सारस्वत नगरी की स्वामिनी है तथा उस देश के पुनःनिर्माण हेतु किसी योग्य व्यक्ति की खोज में भटक रही है। वह मनु को आत्मनिर्भर तथा आत्मविश्वासी होने के लिए प्रेरित करती है तथा विज्ञान की सहायता से सारस्वत के उजड़े प्रदेश को बसाने के लिए शासक नियुक्त करती है। इड़ा की प्रेरणामयी वाणी मनु में आत्मविश्वास का संचार करती है और वे भावुकता छोड़कर बौद्धिकता का आश्रय लेते हैं—

"अवलंब छोड़कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया,
मैं बढ़ा सहज, तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया।

मेरे विकल्प संकल्प बनें, जीवन हो कर्मों की पुकार
सुख साधन का हो खुला द्वार।"

(यह सर्ग मनु के अन्तर्द्वन्द्व से प्रारम्भ होता है। काम के शाप की योजना द्वारा कवि ने प्रतिपादित किया है कि मनुष्य को स्वार्थ, दम्भ तथा अहं का त्याग कर देना चाहिए तथा भावना एवं बुद्धि के सन्तुलित स्वरूप को अपनाना चाहिए। नितान्त बौद्धिकता तथा अतिशय वैज्ञानिकता मनु को स्वार्थी तथा निष्ठुर बना देती है। यह सर्ग कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से भी अपूर्व है। कवि ने घनाक्षरी जैसे स्वनिर्मित नये छन्दों का प्रयोग किया है। भाषा तथा अलंकारों की छटा दर्शनीय है। शैली प्रतीकात्मक तथा लाक्षणिक है और संवाद मार्मिक, संक्षिप्त एवं चरित्र को उद्घाटित करने वाले हैं।)

(१०) स्वप्न

विरहिणी श्रद्धा मनु के अभाव में दीपशिखा के समान तिल-तिल जलते हुए अपनी एकाकी गुफा में जीवन व्यतीत करती है। प्रकृति के समस्त उपादान जो संयोगावस्था में आह्लादवर्धक थे अब उसे मिलनावस्था के सुखों का स्मरण कराकर दग्ध करते थे। एक दिवस जब श्रद्धा इसी प्रकार खिन्न बैठी थी तब उसका पुत्र कुमार वन से खेल कर लौटता है। श्रद्धा को उस समय मनु की स्मृति हो आती है। वह कुमार को देर से आने पर उलाहना देती है—

"कहाँ रहा नटखट, तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना।
अरे पिता के प्रतिनिधि, तूने भी सुख दुख तो दिया घना,
चंचल तू, वनचर मृग बनकर भरता है चौकड़ी कहीं,
मैं डरती तू रूठ न जाये करती कैसे तुझे मना।"

फिर वह अपने पुत्र कुमार के साथ सो जाती है। उसी रात्रि वह स्वप्न देखती है कि मनु इड़ा के पास हैं तथा उसके सहयोग से उन्होंने एक ऐसे सुन्दर नगर का निर्माण किया है जो धन-वैभव के साथ ही सभ्यता व संस्कृति का भी केन्द्र है। स्वप्न में श्रद्धा भी राजभवन के प्रहरियों की दृष्टि बचाकर उस नगर में प्रवेश करती है और वहाँ की सुख-समृद्धि का अवलोकन करती है। तदनन्तर उसने उन्मत्त मनु को इड़ा द्वारा दी गई मदिरा का पान करने तथा इड़ा से प्रणय की भिक्षा मांगते देखा। इड़ा के अस्वीकार करने पर पाशविक वृत्तियों से उत्तेजित मनु आवेश में आकर इड़ा के साथ बलात्कार करना चाहते हैं। मनु के इस दुर्व्यवहार से सारे देव तथा प्राकृतिक शक्तियाँ क्रुद्ध हो उठीं, शंकर का तीसरा नेत्र खुला तथा रुद्र ने अजगव नामक गाण्डीव चढ़ा लिया। सारी सृष्टि भयभीत तथा कम्पित हो उठी। सारस्वत नगरी भी व्याकुल हो कर काँपने लगी तथा समस्त प्रजा राजद्वार पर आकर एकत्र हो गई। भयभीत मनु ने राजद्वार बन्द करने की आज्ञा दी और अपने शयनागार में चले गए।

इस भयकर स्वप्न मे मनु द्वारा पर-स्त्री के प्रति अनुराग-प्रदर्शन से श्रद्धा अपने भविष्य के प्रति शंकित हो उठी और उसकी पूरी रात्रि चिन्ताओं में कटी।

(परम्परागत उपमानो के माध्यम से कवि ने श्रद्धा का विरहपूरित जो चित्र खींचा है वह अद्वितीय है। प्रकृति उद्दीपन रूप मे चित्रित की गई है। सारस्वत नगरी के वैभव तथा मनु के अनाचार के वर्णन द्वारा कवि ने वैज्ञानिक प्रगति तथा तज्जनित अनैतिकताओ की ओर सकेत किया है। प्रियजन के प्रति मानव-मन मे उत्पन्न होने वाली आशंकाओ का भी अत्यत मनोवैज्ञानिक चित्रण कवि ने किया है।)

(११) संघर्ष :

भौतिक मध्यावस्था से समस्त प्रजा जब राजद्वार पर आती है और उसे शरण के लिए खुला न पाकर बन्द देखती है तब वह क्रोध और अपमान से विद्रोह कर देती है। मनु अपने शयनागार मे पड़े विचार कर रहे थे कि मैं प्रजापति हूँ, नियमों का विधायक हूँ, अतः मैं चिर स्वतन्त्र हूँ तथा रहूँगा। मैं इडा के सम्मुख आत्मसमर्पण नही कर सकता—

"मैं चिर बंधनहीन मृत्यु-सीमा उल्लंघन
करता सतत चलूँगा यह मेरा है दृढ़ प्रण।
महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना
चेतनता की तुष्टि वही है फिर सब सपना।"

करवट लेने पर उन्हे इडा अपने सम्मुख खडी दिखाई देती है। वह उन्हें समझाती है कि नियामक को तो वैयक्तिक स्वार्थ एव उच्छृंखलता छोड़कर प्रजा के अनुकूल बनना चाहिए अन्यथा वह उनका मार्ग-दर्शन कैसे करेगा। निर्वाधित अधिकार मिलना असम्भव है। मनु उसे समस्त वैभव लौटा कर केवल उसका प्रेम पाने की आकांक्षा व्यक्त करते हैं। इड़ा रुष्ट प्रकृति तथा शरण मांगती क्षुब्ध प्रजा की ओर सकेत करती है तथा अपने द्वारा दी गई सुविधाओं का स्मरण दिला कर कृतघ्न न बनने के लिए कहती है। जैसे ही वह शयन-कक्ष से निकलना चाहती है, मनु उसके साथ अतिचार करना चाहते हैं। क्षुब्ध प्रजा सिंहद्वार तोड़कर भीतर घुस आती है। उनका नेतृत्व करने वाले वही असुर-पुरोहित आकुलि तथा किलात थे। भयकर संघर्ष होता है। प्रकृति प्रजा का पक्ष ग्रहण करती है। रुद्र के बाण से मनु आहत होकर धराशायी होते हैं। इड़ा इस भयकर नर-संहार को रोकने मे असमर्थ रहती है और सम्पूर्ण सारस्वत नगर युद्ध की विभीषिका से ग्रस्त हो उठता है।

(मनु के अहंकार तथा अनाचार के चित्रण द्वारा कवि ने वैज्ञानिक प्रगति से उत्पन्न विभीषिकाओं तथा भ्रष्टाचार की ओर सकेत किया है। उसने सारस्वत-नगरवासियों को भी वैज्ञानिक यत्रों के आविष्कार से क्षुब्ध एव सत्रस्त चित्रित कर स्वमत की पुष्टि की है। राजा और प्रजा के समान अधिकारो की घोषणा द्वारा

उनने साम्यवाद का समर्थन किया है। इडा द्वारा भीषण नर-संहार तथा रक्तपात को रोकने के प्रयत्न में गांधीवादी अहिंसा की भावना मुखर है।)

(१२) निर्वेद :

युद्ध के कारण ध्वस्त तथा समृद्धिहीन सारस्वत नगर में ग्लानियुक्त बैठी हुई इडा विगत पर विचार करती है। उसे अपने उपकारों के प्रति मनु की कृतघ्नता पर क्षोभ होता है तथा मनु को आहत अवस्था में मूर्च्छित पड़ा देखकर दया भी आती है। इतने में उसे मलिन वेशभूषा में, कातर स्वर में मनु का पता पूछती, श्रद्धा की वाणी सुनाई देती है जो अपने पुत्र कुमार सहित, स्वप्न में मनु को संघर्ष में आहत होता देखकर ढूँढने आई है। वेदी की तीव्र ज्वाला के आलोक में मूर्च्छित मनु को देखकर श्रद्धा कातर हो उठती है तथा अपने मधुर स्पर्श से उनकी व्यथा दूर करने का प्रयास करती है। वह कुमार को उसके पिता का परिचय देती है। मनु चेतना आते ही श्रद्धा को देखकर गद्‌गद हो जाते हैं तथा अपने दुष्कृत्यों के लिए पश्चात्ताप करते एवं क्षमा-याचना करते हैं। वे इडा तथा सारस्वतप्रदेशवासियों के प्रति घृणा तथा क्षोभ व्यक्त करते हुए श्रद्धा से कहीं अन्यत्र ले चलने का अनुरोध करते हैं—

"ले चल इस छाया के बाहर
मुझको दे न यहाँ रहने।"

श्रद्धा उन्हें स्वस्थ होने ही ले चलने का आश्वासन देकर अपने पुत्र कुमार के साथ उनके समीप ही सो जाती है। चिन्तित तथा उद्विग्न मनु सारी रात संसार की नश्वरता और क्लेशों के विषय में मनन करते हैं तथा श्रद्धा के उनके समीप रहते हुए सारस्वतनगरवासियों से प्रतिशोध ले सकना असम्भव जानकर, श्रद्धा को सोता छोड़कर पुनः वहाँ से शान्ति की खोज में चल पड़ते हैं—

"श्रद्धा के रहते यह संभव
नहीं कि कुछ कर पाऊँगा,
तो फिर शांति मिलेगी मुझको
जहाँ, खोजता जाऊँगा।"

प्रात होते ही कुमार अपने पिता मनु को वहाँ न पाकर व्यथित हो उठता है। श्रद्धा विस्मित तथा किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती है और इडा इस सम्पूर्ण काण्ड के लिए स्वयं को दोषी मान बैठती है।

(यह सर्ग इतिहास की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी अपनी मनोवैज्ञानिकता के कारण प्रशंसनीय है। कवि ने मानव-मन में उत्पन्न ग्लानि, क्षोभ

प्रेम, वेदना, निर्वेद, अरुचि आदि संवेगों का मनोयोगपूर्ण, मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। मनु तथा इड़ा के अन्तर्द्वन्द्व के अंकन में कवि पूर्ण सफल रहा है।)

(१३) दर्शन :

कुमार के साथ अकेले सारस्वत नगर में रहते हुए श्रद्धा अत्यन्त दुखी और उदास रहती थी। उदासीन, क्लान्तिपूर्ण श्रद्धा को एक दिन एकांत सरस्वती-तट पर चिन्ता-चर्वित बैठा देखकर उसका पुत्र कुमार उससे घर लौटने का अनुरोध करता है तथा उसके दुःख का कारण जानना चाहता है। श्रद्धा उसे बताती है कि केवल सारस्वत नगर का परकोटे से घिरा भवन उसका घर नहीं प्रत्युत् यह सम्पूर्ण विश्व जो उल्लास, कान्ति तथा शान्ति से युक्त है, उसका घर है। इसी समय इड़ा अत्यंत दयनीय होकर श्रद्धा के सम्मुख आती है तथा अपने प्रति उसकी 'विरक्ति का कारण पूछती है।

श्रद्धा उसे आश्वासन देती है कि वह उससे विरक्त नहीं है और मनु के दुर्व्यवहार के लिए क्षमा-याचना करती है। इड़ा अपने नगर की अव्यवस्था तथा जनता की उदभ्रान्तावस्था एवं पथभ्रष्टता के विषय में श्रद्धा को बताती है और मनु को राजकार्य में व्यस्त रखने की त्रुटि के लिए क्षमा-याचना करती है। वह श्रद्धा से दिशा-निर्देशन करने की याचना करती है। श्रद्धा उसे बताती है कि मात्र बौद्धिकता श्रेयस्कर नहीं है। मानव को बुद्धि तथा हृदय का सम्मिश्रण करना चाहिए। इड़ा की पराजय का कारण उसकी अतिशय बौद्धिकता एवं तर्कमयता तथा उसके द्वारा नारीगत सहज कोमलता, उदारता एवं ममता का विस्मरण ही है, जिससे उसकी प्रजा दैवी प्रकोप का भाजन बनी तथा पथभ्रष्ट हुई। वह अपने पुत्र कुमार को भी इड़ा को सौंपती है तथा परस्पर सहयोग से राष्ट्र-संचालन करने की सम्मति देती है। कुमार के विचलित होने तथा श्रद्धा के साथ रहने का हठ करने पर वह उसे समझाती है तथा इड़ा को सहयोग देने की शिक्षा देती है—

"हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्यथा-भार ;
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कर्म अभय;
इसका तू सब संताप निचय,
हर ले, हो मानव भाग्य उदय;
सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार।"

वह अकेले मनु की खोज में चल पड़ती है तथा उन्हें सरस्वती के एकान्त तट पर तपस्या में लीन पाती है। मनु श्रद्धा को देखकर प्रसन्न होते हैं तथा उसके त्याग

एवं प्रेम की प्रशंसा करते हैं। वह इड़ा द्वारा कुमार के प्रहरण को घन एवं प्रचंड बताते हैं। श्रद्धा उन्हें आश्वस्त करती है कि विश्व-कल्याण हेतु वह स्वयं स्वेच्छा से कुमार को इड़ा को सौंप आई है। श्रद्धा के साहचर्य में ही उस समय मनु को शिव के नटराज रूप के दर्शन होते हैं तथा दिव्य अनाहत नाद सुनाई देता है। वे श्रद्धा से शिव के चरणों तक ले चलने का अनुरोध करते हैं।

(इस सर्ग में कवि ने मानव-मात्र को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सन्देश दिया है तथा बताया है कि सांसारिक प्रपंचों से मुक्त होने के लिए उसे पूर्ण प्रपत्ति भाव से शिव को समर्पण करना चाहिए। राजनीति की सफलता के लिए उन्होंने समरसता का होना अनिवार्य बताया है। कवि पर शैव मत का प्रभाव स्पष्ट है। श्रद्धा तथा इड़ा के संवाद मार्मिक तथा चरित्र को उद्घाटित करने वाले हैं। नटराज के नृत्य एवं अनाहत नाद के वर्णन में दिव्यता तथा अलौकिकता है। कवि के जीवन-दर्शन को अभिव्यक्ति देने के कारण यह सर्ग काल्पनिक होने पर भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।)

(१४) रहस्य :

श्रद्धा मनु की शिव-दर्शन की उत्कट अभिलाषा देखकर उन्हें हिमालय पर्वत पर ले जाती है। प्राकृतिक बाधाओं तथा विषमताओं से शीघ्र ही मनु धैर्य खो देते हैं तथा श्रद्धा से लौटने का अनुरोध करते हैं। श्रद्धा उन्हें धैर्य बंधाती है तथा थोड़े से प्रयत्न से उन्हें उस समतल भूमि तक ले आती है जहाँ उन्हें भूमंडल के स्थान पर तीन रंग के तीन लोक दिखाई देते हैं। विस्मित मनु श्रद्धा से उनका रहस्य पूछते हैं। श्रद्धा उन्हें बताती है कि ये तीनों क्रमशः इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के तीन लोक हैं जिनमें परस्पर भेद है। इसी कारण संसार में वैषम्य और अशान्ति है—

"यही त्रिपुर है देखा तुमने
तीन बिंदु ज्योतिर्मय इतने,
अपने केन्द्र बने दुख-सुख में
भिन्न हुए हैं ये सब कितने।
ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।"

श्रद्धा की मधुर मुस्कान के साथ ही परस्पर दूर प्रतीत होने वाले ये तीनों लोक एक-दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं और उनके सम्मिलित रूप में से शृंग तथा डमरू की ध्वनि सुनाई देती है। साक्षात् शिव नृत्य करते हुए प्रकट होते हैं। इस दिव्य दर्शन से मनु के मन का सारा कलुष दूर हो जाता है, स्वार्थ की भावना नष्ट हो जाती है तथा वे श्रद्धा सहित उस दिव्य अनाहत नाद को सुनने में लीन हो जाते हैं।

(प्रसाद जी ने शैव मतानुसार स्वीकृत तीन लोकों का वर्णन इतनी सरसता से किया है कि उसमें दर्शनजनित नीरसता तथा शुष्कता नहीं रह गई है। मानव-जीवन की सम्पूर्णता के लिए इच्छा, ज्ञान व क्रिया का समन्वय आवश्यक है और वह श्रद्धा द्वारा ही सम्भव है। हिमालय के वर्णन में प्रकृति का चित्रण अत्यन्त सुन्दर है।)

(१५) आनन्द :

कुमार तथा इड़ा परस्पर सहयोग व परिश्रम से ध्वस्त सारस्वत नगरी को पुनः जीवन ही नहीं देते वरन् धन एवं वैभव से भी सम्पन्न बना देते हैं। तदनन्तर एक दिन कुमार तथा इड़ा समस्त सारस्वत नगर-वासियों सहित मनु तथा श्रद्धा के दर्शन हेतु कैलाश पर्वत की ओर चल पड़ते हैं। उनके साथ सोमलताओं से लदा धर्म का प्रतीक वृषभ भी था जिसकी रस्सी कुमार के हाथ में थी। एक बालक के अनुरोध पर इड़ा अपने गतव्य तथा मनु व श्रद्धा के निवास-स्थल, उस पवित्र तपोवन का वर्णन करती है जहाँ अप्रतिम सौन्दर्य से युक्त मानसरोवर है तथा प्रकृति की शोभा अद्वितीय है। वह बताती है कि वृषभ, जो धर्म का प्रतीक है, वहाँ पहुँचने पर स्वतन्त्र कर दिया जाएगा।

उस तपोवन में पहुँचने पर सभी यात्री वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो उठते हैं। वहाँ उन्हें तपस्या-लीन मनु तथा पुष्पांजलि अर्पित करने के लिए प्रतीक्षारत श्रद्धा के दर्शन होते हैं। इड़ा श्रद्धा के सम्मुख अपनी न्यूनताओं को स्वीकार करती है तथा कुमार के सहयोग से उपलब्ध सफलताओं से अवगत कराती है। समाधि खुलने पर मनु भी अत्यंत प्रसन्न दिखाई देते हैं तथा सबको परस्पर प्रेम और सौहार्द्र से रहने की शिक्षा देते हैं। उनके इस परिवर्तित रूप को देखकर श्रद्धा मुस्करा उठती है। उसके मुस्कराते ही वहाँ का सम्पूर्ण वातावरण एक दिव्य आलोक तथा सौन्दर्य से परिपूर्ण हो उठा तथा सब व्यक्ति परस्पर मनोमालिन्य को भूलकर समरसता का अनुभव करने लगे। सभी अखंड आनन्द में लीन हो गए—

"समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखंड घना था।"

(प्रसादजी अखंड आनन्दोपलब्धि को ही जीवन का लक्ष्य मानते थे, इसी तथ्य को उन्होंने इस सर्ग में प्रतिपादित किया है। गांधीजी के 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा शैव धर्म के प्रत्यभिज्ञा दर्शन से भी वे प्रभावित थे। शैलीगत लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता तथा व्यंजकता की दृष्टि से यह सर्ग अनुपम है। प्रकृति का चित्रण भी अत्यंत सुन्दर है।)

५

ऐतिहासिकता

महाकाव्य के लक्षणों का निरूपण करते समय प्रायः सभी आचार्यों ने यह प्रतिपादित किया है कि महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा लोक-विश्रुत होना चाहिए। उसमें कल्पना का भी पर्याप्त आश्रय लिया जा सकता है किन्तु कथानक को केवल काल्पनिक बना देने से प्रमाता पर अभीष्ट प्रभाव नहीं पड़ता। 'कामायनी' भी इसका अपवाद नहीं है। इसमें मनु और श्रद्धा से सम्बद्ध जिस कथानक को ग्रहण किया गया है, उसका मूल रूप पुराणों तथा धार्मिक ग्रन्थों में सुरक्षित है। किन्तु, पुराणों में यह कथानक अत्यन्त विरल एवं विशृंखल रूप में प्राप्त है। अतः महाकाव्य के लिए आधार-रूप में ग्रहण करते समय कल्पना का आश्रय लेकर इसे सुसम्बद्ध बना लेना आवश्यक था। इसी कारण प्रसादजी ने अनेक काल्पनिक प्रसंगों का निर्माण तथा कतिपय ऐतिहासिक कथाओं में संशोधन करके उनमें शृंखला स्थापित करने का प्रयास किया है। इस विषय में 'कामायनी' के 'आमुख' में प्रसादजी की स्पष्ट स्वीकारोक्ति भी है। अतः 'कामायनी' में ऐति-हासिक कथानक को ग्रहण करते हुए कल्पना के योग से उसे सुसम्बद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है। अब हम इस महाकाव्य की ऐतिहासिक एवं काल्पनिक घटनाओं का विवेचन करेंगे।

'कामायनी' की कथावस्तु को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है— (१) जलप्लावन और मनु, (२) मनु-श्रद्धा-मिलन तथा उन दोनों का गृहस्थ जीवन, (३) मनु-इड़ा-मिलन एवं सारस्वत प्रदेश का वर्णन, (४) मनु की कैलाश-यात्रा, शिवताण्डव, त्रिपुर-दाह आदि।

(१) जल-प्लावन और मनु :

'कामायनी' की कथावस्तु का मूल आधार जल-प्लावन के उपरान्त मनु द्वारा मानव-सृष्टि के विकास से सम्बद्ध है। सृष्टि के प्रारम्भ में जल-प्लावन का उल्लेख भारत एवं विदेश के विभिन्न धर्मग्रन्थों में अनेक प्रकार से हुआ है। बृहदारण्यक उप-निषद्, नारदपुराण, शतपथ ब्राह्मण, जैमनीय ब्राह्मण, महाभारत, मत्स्यपुराण, भागवत-

पुराण, अग्निपुराण, भविष्यपुराण, महापुराण, जैनग्रन्थ 'कालसप्ततिका,' विष्णुपुराण, बेबीलोनिया के साहित्य-ग्रन्थों (अत्रहसिस, गिलगमेश), यहूदियों के धर्म-ग्रन्थ 'अन्दावस्ता', पारसी धर्म-ग्रन्थ 'वेंदीदाद' आदि में इस सम्बन्ध में विस्तृत संकेत मिलते हैं। यूनानी साहित्य में ड्यूकिलियन और उसकी पत्नी पीरिया की कथा भी लगभग मनु व श्रद्धा के कथानक के समानान्तर है। प्रसादजी ने इन सब ग्रन्थों का तो नहीं (क्योंकि ऐसा कर सकना किसी भी एक साहित्यकार के लिए सम्भव नहीं है) किन्तु इनमें से अनेक का अध्ययन करके 'कामायनी' में जल-प्लावन के प्रसंग का निरूपण किया है।

इन सभी ग्रन्थों की प्रलय-कथा में अनेक साम्य हैं। प्रलय के साथ-साथ अन्धकार आदि का वर्णन तथा एक पुरुष के बच जाने का उल्लेख इन सभी ग्रन्थों में उपलब्ध है। प्रसादजी ने भी मानव-सृष्टि के प्रारम्भ में होने वाली इसी प्रलय का वर्णन किया है। साथ ही, उन्होंने अनेक मौलिक प्रसंगों की कल्पना भी की है। उदाहरण के लिए भारतीय ग्रन्थों में मनु की नौका मत्स्य के सींग में बाँधी जाकर अन्ततः उसी के द्वारा हिमालय पर्वत पर पहुँचाई जाती है। किन्तु आधुनिक युग में उस भीषण प्रलय में केवल मत्स्य द्वारा मनु की नौका की रक्षा पर विश्वास नहीं किया जा सकता। अतः प्रसादजी ने मत्स्य के प्रबल आघात द्वारा प्रलय में सतरण करती हुई नौका के अचानक ही पर्वत पर पहुँच जाने की कल्पना की है।

पुराण आदि में प्रलय के कारण का उल्लेख न करके इसे नैमित्तिक प्रलय माना गया है। उधर, विदेशी धर्म-ग्रन्थों में प्रलय को ईश्वर पर अविश्वास एवं मनुष्य के पापों के फलस्वरूप माना गया है। किन्तु प्रसादजी ने देवताओं के विलासातिरेक तथा दम्भ को इसके कारण-रूप में उपस्थित करके नवीन दृष्टिकोण का परिचय दिया है। पुराणों में देव-विलास एवं दम्भ का वर्णन तो है, पर इसे प्रलय का कारण नहीं माना गया। अतः प्रसादजी ने एक प्रकार से ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुए भी मौलिक कल्पना का संयोजन किया है।

(२) मनु-श्रद्धा-मिलन तथा उनका गार्हस्थ्य जीवन :

'श्रीमद्भागवत-पुराण' में मनु और श्रद्धा के सहयोग से मानव-सृष्टि के विकास का उल्लेख है। प्रसादजी ने भी इस कथानक को इसी रूप में ग्रहण किया है। किन्तु, पुराणों में प्राप्त होने वाले मनु के दस पुत्रों के वर्णन के स्थान पर प्रसाद जी ने मनु के केवल एक पुत्र का उल्लेख किया है। वस्तुतः मनु के शेष नौ पुत्रों का वर्णन प्रस्तुत कथा के लिए अनावश्यक था। इसी कारण प्रसादजी ने केवल एक पुत्र का वर्णन किया है।

मनु और श्रद्धा का कथानक 'कामायनी' की मूल कथावस्तु है। अतः प्रसाद जी ने इसमें अनेक मनोरम प्रसंगों की कल्पना करके इसे समृद्ध किया है तथा कथा को आकर्षक रीति से बदलने का प्रयास किया है। मनु के प्रति समर्पण करते समय

श्रद्धा के मन में लज्जा का उदय, श्रद्धा के गर्भवती होने पर मनु द्वारा ईर्ष्यावश उसका परित्याग, श्रद्धा का विरह-वर्णन, अपने पुत्र के प्रति श्रद्धा की वात्सल्यमयी चेष्टाएँ आदि अनेक कथा-प्रसंग सर्वथा मौलिक हैं। इस महाकाव्य के मर्मस्पर्शी प्रसंगों की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व है।

(३) मनु-इडा-मिलन एवं सारस्वत प्रदेश :

पुराणों एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार इडा की उत्पत्ति मनु द्वारा किये गए मैत्रावरुण यज्ञ से हुई थी। इस प्रकार इडा मनु की पुत्री सिद्ध होती है। किन्तु, प्रसादजी ने इडा को मनु की कन्या न बताकर उसे सारस्वत प्रदेश की रानी बनाया है। इस परिवर्तन का मुख्य उद्देश्य मनु की चरित्र-रक्षा करना है। प्रसादजी ने 'संघर्ष' सर्ग में मनु द्वारा इडा के प्रति बलात्कार के प्रयत्न का वर्णन किया है। अतः यदि वे इडा को मनु की कन्या बताते तो मनु के इस कृत्य द्वारा उनका नैतिक विनिपात सर्वथा निन्दनीय था।

साथ ही, पौराणिक कथा के अनुसार प्रजापति ने जब पुत्री के साथ अनाचार करने का प्रयास किया, तब उनके विरुद्ध देवताओं का युद्ध दिखाया गया है। किन्तु प्रसादजी ने इस अलौकिक तत्त्व (देव-युद्ध) के स्थान पर सारस्वत नगर की प्रजा और मनु के युद्ध का वर्णन किया है। हाँ, आलंकारिक रूप में देव-कोप का उल्लेख भी उन्होंने कर दिया है।

४ मनु की कैलास-यात्रा, शिव-ताण्डव, त्रिपुर-दाह आदि :

मनु की कैलास-यात्रा से सम्बद्ध कथा-प्रसंग प्रसादजी की मौलिक उद्भावना है। वैसे, शैवागमों तथा पुराणों में कैलास पर्वत का प्रचुर वर्णन है तथा शिव का वास होने के कारण वहाँ आनन्द का सर्वाधिक प्रसार बताया गया है। इसी कारण प्रसादजी ने मनु के दुःख-नाश, क्लैब्य-निवारण एवं आनन्द-प्राप्ति के लिए कैलास-यात्रा का आयोजन किया है। शिव-ताण्डव एवं त्रिपुर-दाह पूर्णतः ऐतिहासिक हैं। 'त्रिपुरा रहस्य' तथा अन्य शैवागमों में इन दोनों घटनाओं का वर्णन है। 'त्रिपुरा रहस्य' के अनुसार त्रिपुरा देवी का एक नाम 'श्रद्धा' भी है। यही ज्ञान-लोक, कर्म-लोक एवं भाव-लोक में सामंजस्य स्थापित करती है। 'कामायनी' में भी श्रद्धा ने ही इन तीनों लोकों के पार्थक्य को समाप्त करके इनमें समन्वय किया है।

५ 'कामायनी' के परिवर्तित कथा-प्रसंग :

'कामायनी' की रचना करते समय प्रसादजी ने पुराणों एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध अनेक कथा-प्रसंगों को यथावत् ग्रहण न करके उनमें विवेक-सम्मत परिवर्तन किये हैं। ऐसे प्रसंगों पर संक्षेप में विचार कर लेना उचित होगा—(क) कामायनीकार ने मनु की नौका को महामत्स्य के आघात द्वारा पर्वत पर पहुँचा हुआ

दिखाया है, जबकि परम्परानुसार उसे मत्स्य के सींग मे बाँध कर उचित स्थान पर पहुँचाया गया है। (आ) 'कामायनी' में मनु द्वारा यज्ञ का विधान पुत्र-प्राप्ति के निमित्त नही, वरन् सहज धर्म-प्रवृत्ति के कारण हुआ है। (इ) ऐतिहासिक दृष्टि से श्रद्धा को मनु की पत्नी के रूप मे ही वर्णित किया गया है, जबकि प्रसादजी ने उसे कुमारिका, प्रेमिका, पत्नी व माता के रूप मे बहुमुखी अभिव्यक्ति प्रदान की है। (ई) मनु और श्रद्धा के दस पुत्रों का उल्लेख न करके प्रसादजी मूल विषय तक ही सीमित रहे और ग्रन्थ के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए विस्तार से बचकर, केवल 'मानव' की चर्चा की है। (उ) सारस्वतप्रदेश में इड़ा के प्रति मनु की कुचेष्टा के प्रसग मे 'कामायनी' में मनु के विरुद्ध प्रजा का क्रोध व्यक्त किया गया है, अति-प्राकृतिक रूप में देवगण को उन्होंने प्रस्तुत नही किया।

६. कथावस्तु मे नवीन कल्पनाएँ :

इतिहास के अनुपलब्ध अथवा बिखरे हुए कथा-सूत्रो को व्यवस्थित करने के लिए कवि ने 'कामायनी' के कथानक को आकर्षक आयाम प्रदान किए हैं। उसके द्वारा इस दिशा मे की गई कतिपय मधुर कल्पनाएँ इस प्रकार हैं—(अ) 'लज्जा' सर्ग मे लज्जा का मनोवैज्ञानिक निरूपण, (आ) गर्भवती श्रद्धा के मातृगृह की कल्पना और स्वच्छन्द मनोवृत्ति के मनु के प्रति श्रद्धा द्वारा अहिंसा का उपदेश, (इ) मनु द्वारा गर्भवती श्रद्धा का परित्याग, (ई) श्रद्धा का विरह-वर्णन एव स्वप्न देखने के अनन्तर उसका मनु की खोज मे जाना, (उ) ग्लानि के कारण मनु का पुनर्गमन, (ऊ) सारस्वतप्रदेशवासियों की कैलाश-यात्रा एवं मनु से भेंट, आदि।

'कामायनी' के विभिन्न कथा-प्रसगों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसादजी ने मूल ऐतिहासिक-पौराणिक कथानक मे दो प्रकार के परि-वर्तन किए हैं—(१) पूर्णत. नवीन उद्भावनाएँ, (२) औचित्य की दृष्टि से पौरा-णिक कथा मे सशोधन। समर्पण करने से पूर्व श्रद्धा में लज्जा का उदय, श्रद्धा के गर्भवती होने के अनन्तर मनु की ईर्ष्या, श्रद्धा का परित्याग, श्रद्धा का विरह-वर्णन आदि नवीन उद्भावनाएँ हैं। युगीन प्रभाव के कारण भी 'कामायनी' में कतिपय मौलिक कल्पनाएँ की गई हैं। श्रद्धा द्वारा अहिंसा का उपदेश, तकली कातना, पशु-पालन आदि इसी प्रकार के प्रसग हैं। (युगीन प्रभाव के कारण इन घटनाओ मे गाधीवाद की अभिव्यक्ति हुई है।) इसके विपरीत मत्स्य के आघात द्वारा नाव की रक्षा, इड़ा को मनु की दुहिता न मानना, मनु के एक पुत्र का वर्णन आदि 'कामा-यनी' की संशोधित कथाएँ हैं।

प्रस्तुत प्रसग मे यह ज्ञातव्य है कि कामायनीकार की ये सभी उद्भावनाएँ अथवा सशोधन अनुचित नहीं हैं। इन सभी का नियोजन सोद्देश्य हुआ है। कथा-सूत्र के सयोजन, नायक के गौरव, स्वाभाविकता की रक्षा अथवा प्रमाता को रस प्रदान

करने के लिए ही प्रसादजी ने इनका आश्रय लिया है। अतः कामायनीकार द्वारा किये गए ये परिवर्तन उचित ही हैं। वैसे भी, 'कामायनी' धार्मिक या ऐतिहासिक ग्रन्थ न होकर महाकाव्य है। उसमें रूपकत्व का समावेश करके मानव-मन की वृत्तियों का निरूपण भी किया गया है। इन्हीं दोनों कारणों से प्रसादजी ने इतिहास के स्थूल एवं शुष्क रूप को ग्रहण करने के स्थान पर उसे सरल एवं काव्योचित रूप में स्वीकार किया है—और इस प्रकार 'कामायनी' में ऐतिहासिक कथानक को रसात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की गई है।

कामायनीकार ने ऐतिहासिक कथानक को ही आधारस्वरूप क्यों ग्रहण किया, इस सम्बन्ध में सुश्री सुशीला भारती ने उचित ही कहा है—"इतिहास के माध्यम से मनुष्य, अतीत के अनुभवों के आधार पर, वर्तमान की स्थापना करता है। इसीलिए प्रसाद ने मानवीय भावों की प्रतिष्ठा के लिए इतिहास के उन पृष्ठों को चुना जिन्होंने देवगण के उच्छृङ्खल स्वभाव और निर्बाध आत्मतुष्टि में अन्तिम अध्याय जोड़कर एक नवीन युग की सूचना दी थी। जलप्लावन से सम्बन्धित मनु के इतिहास को 'कामायनी' का आधार बनाने का कारण भी मानवीय भावों को सुख एवं शान्ति के लिए काव्य में प्रतिष्ठित करना था।"[१]

---

१ कामायनी : इतिहास और रूपक, पृष्ठ ८८

रूपक-तत्त्व

'कामायनी' में रूपक-तत्त्व पर विचार करने से पूर्व हमें इस शब्द के विभिन्न अर्थों को जान लेना चाहिए। आधुनिक काव्यशास्त्र में इसके मुख्यतः तीन अर्थ प्रचलित हैं—(१) 'नाटक' के वाचक रूप में, (२) अलंकार-विशेष के रूप में, (३) पश्चिम के 'एलीगरी' के पर्याय रूप में। नाटक के रूप में इसका प्रयोग संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों से लेकर आधुनिक युग तक समान रूप में होता रहा है। 'रूपक' नामक अलंकार-विशेष का अर्थ भी पर्याप्त प्रचलित है। इसके अन्तर्गत उपमेय में उपमान का निषेध रहित आरोप किया जाता है। हाँ, तीसरा अर्थ पाश्चात्य काव्यशास्त्र की देन है। पश्चिम में काव्य की एक विशिष्ट विधा 'एलीगरी' (allegory) के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें एक द्वयर्थक कथा की योजना की जाती है। अर्थात् अमूर्त और सूक्ष्म कल्पनाओं को भौतिक आधार लेकर स्थूल और मूर्त रूप प्रदान किया जाता है। 'चैम्बर एनसाइक्लोपीडिया' में इसका स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—"Allegory is a method of literary or pictorial composition whereby the author or artist bodies forth immaterial things in concrete tengible images."[1]

'एलीगरी' के स्वरूप और विशेषताओं पर विचार कर लेना भी अप्रासंगिक न होगा। इसके वस्तु-विधान के लिए सर्वप्रमुख तत्त्व है एक ऐसे कथानक का चयन जो दो कथाओं का भार वहन कर सके। इस द्विअर्थक कथा का संयोजन विशिष्ट कौशल की अपेक्षा रखता है, क्योंकि इसमें प्रस्तुत कथा की योजना इस प्रकार करनी पड़ती है जिससे दूसरा अर्थ भी ध्वनित होता रहे। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि 'एलीगरी' के कथानक में घटना-वैविध्य अथवा कार्य-व्यापार की अधिकता अपेक्षित नहीं है। इसके विपरीत इसमें उन विचारों, बौद्धिक एवं मानसिक स्थितियों तथा अन्तः संघर्षों की अपेक्षा रहती है, जो कवि के मन में बारम्बार तीव्र अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न करते हैं। इस अन्त:संघर्ष को अभिव्यक्त करने के लिए ही कवि को किसी मूर्त

१. Chamber's Encyclopeadia, Volume I, page 271.

करने के की आवश्यकता पड़ती है और इस प्रकार वह द्विअर्थक कथा का संयोजन करने में प्रवृत्त होता है।

'एलीगरी' के माध्यम से द्विअर्थक कथा-संयोजन केवल पश्चिम की विशिष्टता ही नहीं है। भारतीय साहित्य में भी इस प्रकार की अनेक कथाएँ अन्योक्ति तथा समासोक्ति अलंकारों के आधार पर लिखी गई हैं। कबीर के अधिकांश गूढ़ कथन और जायसी का 'पद्मावत' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। हाँ, अन्योक्ति-समासोक्ति की द्विअर्थक कथा-योजना तथा 'एलीगरी' के पर्याय 'रूपक' में एक सूक्ष्म अन्तर अवश्य है। अन्योक्ति में वाच्यार्थ प्रधान एवं व्यंग्यार्थ गौण रहता है, समासोक्ति में इस प्रकार एक की प्रधानता अथवा गौणता का प्रश्न तो नहीं लिया जाता, किन्तु उसमें भी प्रमुखता प्राय: प्रस्तुत अर्थ की ही रहती है। अर्थात् उसमें अभिधेय अर्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ को सायास महत्त्व नहीं दिया जाता, वरन् कहीं-कहीं श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से साकेतिक अर्थ की योजना कर दी जाती है। समासोक्ति में यह भी आवश्यक नहीं है कि उसमें प्रत्येक घटना अथवा शब्द का श्लिष्ट प्रयोग किया जाए। इन दोनों के विपरीत 'रूपक' में यह आवश्यक है कि उसमें प्रत्येक पात्र तथा घटना की आद्योपान्त द्विअर्थक स्थिति हो। उससे सम्बद्ध दोनों कथाएँ कवि को अभीष्ट होती हैं। वस्तुत 'रूपक' की यह विशेषता एक ऐसी व्यावर्तक रेखा है, जो अन्योक्ति अथवा समासोक्ति अलंकार से उसके पार्थक्य को स्पष्ट करती है।

'कामायनी' की रूपकात्मकता

'कामायनी' में रूपक-तत्त्व का विवेचन करते समय हम 'रूपक' को 'एलीगरी' के पर्याय रूप में ही मानकर चलेंगे।

प्रसादजी ने इस महाकाव्य का कथा-नियोजन ऐतिहासिक सूत्रों के आधार पर किया है। यद्यपि उन्होंने इतिहास में उपलब्ध तथ्यों को प्राय: मूल रूप में ही स्वीकार किया है, फिर भी उनके मन में आवेष्टित कथा इतनी स्पष्ट रही है कि यह महाकाव्य रूपक-तत्त्व से अलकृत हो गया है। यह सांकेतिक और मनोविज्ञानपरक कथा इतनी सफलतापूर्वक आयोजित की गई है कि इसे प्रस्तुत कथानक से भिन्न करना असम्भव-सा हो गया है। कथा का यह रूप आलोचकों द्वारा आरोपित नहीं है, वरन् कवि को भी अभीष्ट रहता है। 'कामायनी' के 'आमुख' में कवि की स्वीकारोक्ति इसी तथ्य की परिचायक है।

(अ) "आर्य-साहित्य में मानवों के आदिपुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराण और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है।—मन्वन्तर के अर्थात् मानवता के नव युग के प्रवर्त्तक के रूप में मनु की कथा आर्यों की अनुश्रुति में दृढ़ता से मानी गयी है, इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।"[1]

---

१. कामायनी आमुख, पृष्ठ ३

(आ) "यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।"[१]

(इ) "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्‌भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष—हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।"[२]

इन उक्तियों से स्पष्ट है कि कामायनीकार को सांकेतिक अर्थ अग्राह्य नहीं था। 'कामायनी' के काव्य-भाग में पात्रों, घटनाओं तथा घटना-स्थलों की रूपकात्मक स्थिति के द्वारा भी इसकी सहज पुष्टि हो जाती है।

(अ) पात्रों की सांकेतिक स्थिति :

'कामायनी' के नायक देव-सृष्टि के एकमात्र अवशिष्ट प्रतिनिधि मनु हैं। देव-सृष्टि के ध्वंसोपरान्त वे हिमालय पर आई नयनों से विचार-मग्न बैठे हैं। मन का काम है चिन्तन करना—मनु भी भूत और भविष्य के विषय में चिन्तन कर रहे हैं। देवों के विलास पर आँसू बहाते हुए वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। मन की यही स्थिति संकल्प-विकल्पात्मक स्थिति है, जिसकी चर्चा उपनिषदों में भी हुई है। मन की मूल वृत्ति है अहंकार, जिसके दर्शन मनु की निम्नस्थ पंक्तियों में होते हैं—

"मैं हूँ, यह वरदान सदृश क्यों लगा गूँजने कानों में।
मैं भी कहने लगा 'मैं रहूँ' शाश्वत नभ के गानों में।"

इसी अहं की तुष्टि के लिए मन नाना कर्मों में उलझता है। उसके ये कर्म उसे उत्थान की ओर भी ले जा सकते हैं और पतन की ओर भी। मनु मन के प्रतीक हैं, जो शून्य की स्थिति में वह जीव है जहाँ विराग-राग, मृत्यु-जीवन, असुरत्व-देवत्व, अकर्मण्यता-कर्मण्यता आदि ऋणात्मक और धनात्मक शक्तियाँ मिलती हैं।

मनु पाँच कोशों में से तीसरे अर्थात् मनोमय कोशस्थ जीव हैं, जिसे स्वयं प्रसादजी ने भी स्वीकार किया है। मनोमय कोशस्थ जीव अधोगमन करके प्राण-मय और अन्नमय कोशों तक जा सकता है और ऊर्ध्व संचरण करता हुआ वह विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों की प्राप्ति कर सकता है। मनु किलात-आकुलि के संसर्ग से आसुरी कर्म करते हुए प्राणमय कोश में जाते हैं, किन्तु श्रद्धा के सम्पर्क से

१. कामायनी : आमुख, पृष्ठ ४
२. वही, पृष्ठ ७-८

आनन्दमय कोश को प्राप्त होते हैं। बद्ध जीव के प्रतीक मनु का अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश तक पहुँचने का वर्णन ही मनोवैज्ञानिक कथा का मूलाधार है।

'कामायनी' का दूसरा प्रधान पात्र है श्रद्धा, जिसका ऐतिहासिक पक्ष इतना स्पष्ट नहीं है जितना कि सांकेतिक। आचार्य शुक्ल के मतानुसार वह 'विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति' है। वह प्रवृत्तिमूलक साम्यामयी सद्वृत्ति है, जो निष्क्रिय मनु को पुन: कार्य-नियोजित करती है। वह मनु अर्थात् मन को शक्तिशाली होकर विजयी बनने की प्रेरणा देती है। यह चचल मन का स्थिरीकरण करती है। 'गीता' के अनुसार मन का निग्रह कठिन है—"मनो हि दुर्निग्रह चल", किन्तु श्रद्धा उसे विश्वास-युक्त करती है। कवि के अपने शब्दों में श्रद्धा का स्वरूप यह है—

(अ) "हृदय की अनुकृति बाह्य उदार,
एक लम्बी काया उन्मुक्त ।।"

(आ) "दया, माया, ममता लो आज, मधुरिमा लो अगाध विश्वास,
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ, तुम्हारे लिये खुला है पास।"

दया, माया, ममता, मधुरिमा, अगाध विश्वास आदि हृदय की प्रवृत्तियाँ हैं, जिनका यहाँ साभिप्राय उल्लेख है।

इडा के सांकेतिक अर्थ में तो कोई सन्देह ही नहीं है। वह बुद्धि की प्रतीक है। उसका चरित्र-चित्रण ही इस आधार पर किया गया है। श्रद्धा की भावना की तुष्टि के लिए मन बुद्धि-क्षेत्र में प्रवेश करता है, जिसका स्वरूप सहज चमत्कारपूर्ण होता है—

"उस रम्य फलक पर नवल चित्र-सी प्रकट हुई सुन्दर बाला।
वह नयन महोत्सव की प्रतीक अम्लान नलिन की नव माला।"

इडा व्यवसायात्मिका बुद्धि है जो श्रद्धा की समोजिका शक्ति के विरुद्ध भेदोत्पादक है। वह तर्कयुक्त है। उसके चित्रण में कवि ने जिन उपमानों का आश्रय लिया है, वे बुद्धि के अंग हैं। तर्कजाल, विज्ञान, कर्म, विचार, त्रिगुण आदि सब उसी से सम्बन्धित हैं। वह स्वयं मनु से कहती है—"जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय।" और मनु भी उसकी ओर से सारस्वत प्रदेश की पुनर्व्यवस्था की प्रार्थना को मानकर पुकार उठते हैं—

"अवलम्ब छोड़कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया,
मैं बढ़ा सहज, तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया।।"

इस प्रकार प्रसादजी ने सांकेतिक अर्थ का निरन्तर निर्वाह किया है। 'कामायनी' के पात्रों की यह प्रमुख विशेषता है कि अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए भी वे रूपकत्व में बाधक नहीं बनते।

'कामायनी' के अन्य पात्रों में मनु-श्रद्धा का पुत्र मानव नवीन मानवता का प्रतीक है। उसमें मनु और श्रद्धा के चरित्रांश हैं और वह बुद्धि के संरक्षण में रहता है। किलात और आकुलि आसुरी संस्कृति के अवशेष हैं और मन की आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। वे ही मनु (मन) को पशु-यज्ञ के लिए प्रेरित करते हैं। जीवित प्राणियों में मनुष्येतर जीवों की चर्चा भी 'कामायनी' में आई है। देवता इन्द्रियों के प्रतीक हैं, जो अबाध विलास के कारण सर्वनाश करते हैं। श्रद्धा का पशु निरीह शोषित प्राणी है। कुछ विद्वानों ने उसे आधुनिक अहिंसा के अर्थ में भी माना है। 'वृषभ' धर्म का प्रतिनिधि है और कोमलता से युक्त होने के कारण भोगयुक्त धर्म है।

(आ) घटनाओं तथा घटना-स्थलों की सांकेतिक स्थिति :

पात्रों के पश्चात् घटनाओं और घटना-स्थलों की रूपकात्मक स्थिति की चर्चा अपेक्षित है। 'कामायनी' के प्रारम्भ में जिस जलप्लावन का उल्लेख है वह ऐतिहासिक घटना है। इसकी पुष्टि प्राचीन वैदिक साहित्य और आधुनिक भूगर्भशास्त्रीय अनुसन्धानों से हो जाती है। सांकेतिक अर्थ में जलप्लावन वासनामय अन्नमय कोश है। इड़ा के संकेत पर मनु जिस सारस्वत नगर का पुनरुद्धार करते हैं, वह प्राणमय कोश है। इस प्रदेश की विशेषता भौतिक समृद्धि है, जिसे निरन्तर प्राप्त करते रहने पर भी मनुष्य अपूर्ण-काम रहता है। मानसरोवर और कैलाश क्रमश: समरसता की अवस्था और आनन्दमय कोश हैं। वहाँ अखण्ड आनन्द की परिव्याप्ति है। जो भी प्राणी वहाँ पहुँच जाता है वह शिवमय हो जाता है। 'कामायनी' में इन स्थलों की विशेषता इस प्रकार वर्णित की गई है—

"शापित न यहाँ है कोई, तापित पापी न यहाँ है।
जीवन वसुधा समतल है, समरस है जो कि यहाँ है।"

इसी प्रकार हिमगिरि 'कामायनी' में अबाधित मुक्ति का प्रतीक है। वहाँ का परम धन सन्तोष है। मनु को हिंसा-कर्म में प्रवृत्त कराने के कारण 'पशु-यज्ञ' में पाप का प्रतीकत्व है। त्रिपुर अर्थात् इच्छा, क्रिया व ज्ञान के तीन लोकों को चेतना (मन) की तीन वृत्तियों के रूप में लिया गया है। इनके एकीकरण का विघटन मनु के व्यक्तित्व को खंडित कर देता है, किन्तु श्रद्धा द्वारा इनका समन्वय किया जाने पर समरसता की प्राप्ति होती है।

समग्र रूप से पर्यवेक्षण करें तो ज्ञात होता है कि मनु, जो मनोमय कोशस्थ जीव हैं और पश्चात्ताप से जर्जर होकर अकर्मण्यता को प्राप्त हो चुके हैं, हृदय की विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति के साहचर्य से पुन. कर्मरत होते हैं। किन्तु, मन शुद्ध निर्विकल्प होकर श्रद्धा को ग्रहण नहीं कर पाता। बुद्धि की मलिनता से ग्रस्त होने के

कारण उसमें काम और वासना का जन्म होता है। काम 'इष्ट विषय की अभिलाषा' है और वासना 'इष्ट विषय में अभिनिवेश'। इनकी प्रतिक्रियास्वरूप नारी में स्वच्छन्द क्रिया-संकोच होता है। मन वासना से असंतृप्त होकर कर्म की ओर प्रेरित होता है। उसकी अधिकाधिक तृष्णा उसे हिंसा की ओर ले जाती है। इस कर्म के मार्ग में आने वाले तत्वों से उसे ईर्ष्या होती है। इसी मह की असंतृप्ति मन को बुद्धि की ओर आकर्षित करती है। बुद्धि एक सीमा तक लाभदायक है। मन इससे भौतिक विकास कर सकता है, किन्तु उसकी असंतृप्ति नित्य अभिवृद्धि को प्राप्त करते हुए जब बुद्धि पर निर्बाधित अधिकार चाहती है तब संघर्ष का जन्म होता है। संघर्ष से भी मह की तुष्टि न होने से निर्वेद (विरक्ति) होना स्वाभाविक है। भौतिकता और भेद-बुद्धि से अब मन आत्मरत होने लगता है। आत्मदर्शन की भावना पुनः श्रद्धा का संयोग पाकर रहस्य के उद्घाटन में समर्थ होती है। स्पष्ट है कि इच्छा, क्रिया और ज्ञान (भावना कर्म और ज्ञान) की समरसता ही अखण्ड आनन्द है जो श्रद्धा—आस्थामयी रागात्मिका वृत्ति—के द्वारा सम्भव है। इसी की खोज में मानव युग-युग से प्रयत्नशील है।

इस पर्यवेक्षण से दो बातें सामने आती हैं। एक तो यह कि चंचल मन श्रद्धा-रहित होकर स्थिर नहीं रह सकता। श्रद्धा का सतत साहचर्य ही साम्य की प्राप्ति का साधन है। यहाँ यह शंका उठती है कि मनु श्रद्धा की सहायता से अन्त में जिस आनन्द की प्राप्ति करते हैं, उससे मानव और सारस्वतवासियों का क्या सम्बन्ध है ? इसका उत्तर यह हो सकता है कि मनु के द्वारा जिस आनन्दवाद की स्थापना की गई है, उसे भावी मानवता के लिए आदर्श के रूप में उपस्थित करना कवि को अभिप्रेत था। इसीलिए श्रद्धा कुमार को अपने साथ न ले जाकर इड़ा के पास छोड़ जाती है।

(इ) सर्गों का सांकेतिक नामकरण :

'कामायनी' का रूपक-तत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी स्पष्ट है। इसके सर्गों का नामकरण और क्रम उसी प्रकार रखा गया है, जिस प्रकार हमारे मन में वृत्तियाँ उठती हैं। यहाँ आधुनिक मनोविज्ञान की चर्चा में पूर्व मन के विषय में भारतीय शास्त्रों के मत उद्धृत करना असंगत न होगा। छान्दोग्य उपनिषद् में मन को अन्नमय, प्राण को जलमय और वाक् को तेजोमय कहा गया है। इसी प्रसंग में मन की चंचलता पर भी प्रकाश डाला गया है जिस पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक होता है। पतंजलि ने मन अथवा चित्त-वृत्तियों के निरोध के लिए योग का आधार लेने का परामर्श दिया है—'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।'

शैवदर्शन में मन को प्रवृत्ति मार्ग में नियोजित करने का उल्लेख है। शिव मन की इच्छा से ही सृष्टि का सृजन करते हैं। यदि हम मन को स्वतन्त्रता दे दें तो भी सर्वत्र शिव का वास होने के कारण वह मन उसे छोड़कर कहाँ जायेगा ? वस्तुतः प्रसादजी शैव दर्शन से प्रभावित थे। प्रश्नोपनिषद में दस इन्द्रियों का स्वामी मन को

ही माना गया है। यहाँ यह जान लेना चाहिए कि उपनिषदों का मनोविज्ञान सर्वत्र अध्यात्म-समन्वित है।

आधुनिक मनोविज्ञान मन के गूढ रहस्यों का विश्लेषण करता है। बालक मे सर्वप्रथम शुद्ध चेतना का उदय होता है। यही 'प्रत्यक्ष' के सहारे शरीराभिमानी अहं का बोध उत्पन्न करती है। इनसे मानवीय चेतना विकसित होती है। बालकों मे सर्वप्रथम कुतूहल, जिज्ञासा, भय आदि स्वयंभू मनोवृत्तियों का उदय होता है। किशोरावस्था मे इन्हीं स्वयंभू मनोवृत्तियों के सहारे अहं का बोध होता है जो आगे चलकर लिंग-चेतना को जन्म देता है।

अब देखना यह है कि 'कामायनी' मे इस क्रम का पालन कहाँ तक हुआ है ? 'कामायनी' का आरम्भ चिन्ता से हुआ है। मनु चिन्ताग्रस्त होकर हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठे हैं। धीरे-धीरे उनमे आशा का संचार होता है और तदनन्तर श्रद्धा-वृत्ति का संसर्ग प्राप्त होता है। उनका मन काम और वासना मे उलझने लगता है और इस प्रकार कर्म, ईर्ष्या और संघर्ष करते हुए वे अन्त में आनन्द को प्राप्त करते हैं। स्पष्ट है कि हमारे मन मे उठने वाला भाव-क्रम भी इसी के अनुरूप चलता है। इस प्रकार प्रसादजी ने यहाँ भी प्रतीक-पद्धति से दो कथाओं का सफल निर्वाह किया है।

आधुनिक दृष्टि से 'कामायनी' के रूपक का अर्थ .

प्रत्येक साहित्यकार पर युगीन वातावरण का न्यूनाधिक रूप मे प्रभाव अवश्य रहता है। कामायनीकार को भी इसका अपवाद नहीं माना जा सकता। यद्यपि 'कामायनी' मे *मानव-सभ्यता के प्रारम्भिक युग की गाथा* का प्रतिपादन किया गया है, पर वर्तमान का प्रभाव भी कवि के मन में निश्चित रूप से विद्यमान था। अतः आज के मानव-जीवन का रूपक-तत्त्व भी उसमें सहज स्वीकार्य है। आज के मनुष्य के सामने एक प्रमुख समस्या यह है कि वह श्रद्धा और अध्यात्म के आन्तरिक स्वरूप को समझने में सर्वथा असमर्थ हो रहा है। उसकी आस्था और विश्वास-सम्बन्धी सात्त्विक वृत्तियां अनास्था और अविश्वास में बदल गई हैं। परिणामतः उसका हृदय रागात्मक तत्त्व से शून्य हो गया है और वह अनायास ही बुद्धि-वैभव को गौरव देने लगा है। ममता, वात्सल्य, दया, प्रेम, सहानुभूति आदि की कोमल भावनाओं से सर्वथा रहित होकर वह विज्ञान का अन्धानुसरण कर रहा है। किन्तु, यह बौद्धिक विकास निश्चय ही एकांगी है। इसी कारण आज के युग मे आध्यात्मिकता, विज्ञान और सांसारिक कर्म तीन पृथक्-पृथक् दिशाओं मे चल रहे हैं। इस असामंजस्य को दूर करने के लिए श्रद्धा अर्थात् आस्तिक बुद्धि की आवश्यकता है।

'कामायनी' का मूल लक्ष्य अखण्ड आनन्द की प्राप्ति है, जो श्रद्धा द्वारा सम्भव हुई है। कवि का यह 'अखण्ड आनन्द' ही आधुनिक मानव के कल्याण का द्योतक

है। यही आज की समस्या का प्रमुख समाधान है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि प्रसादजी की अपूर्व प्रतिभा ने आधुनिक युग की प्रमुख समस्या और उसके समाधान का समावेश 'कामायनी' के कथानक में कर दिया है।

रूपकत्व पर कतिपय आक्षेप

अब एक और प्रश्न रह जाता है, और वह है कामायनी के रूपकत्व की तर्कसंगति। आचार्य शुक्ल का प्रबल आक्षेप है कि जब इच्छा, क्रिया और ज्ञान, तीनों श्रद्धा की ही प्रवृत्तियाँ हैं, तब श्रद्धा का ज्ञान से अलग अस्तित्व क्यों? वे कहते हैं— जिस समन्वय का पक्ष कवि ने अन्त में सामने रखा है, उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रकृति के कारण काव्य के भीतर नहीं होने पाया है। पहले कवि ने कर्म को बुद्धि या ज्ञान की प्रवृत्ति के रूप में दिखाया, फिर अन्त में कर्म और ज्ञान के बिन्दुओं को अलग-अलग रखा।"[1] शुक्लजी के इस आक्षेप का उत्तर डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार इस प्रकार है "श्रद्धा केवल भावना नहीं, भाव भी नहीं। वह जीवन की आस्तिक बुद्धि है, विश्वास और आस्था का प्रतीक है। भावलोक तो मात्र भावुकता, केवल इच्छा का प्रतीक है, जबकि श्रद्धा जीवन के अस्तित्व में आस्था अर्थात् विश्वासयुक्त जीवनेच्छा है।"[2]

वस्तु-रचना की दृष्टि से भी श्रद्धा का इन तीनों (भाव, ज्ञान और क्रिया) से अलग होना आवश्यक था। 'कामायनी' की कथा का उद्देश्य समरसता की प्राप्ति करके चिदानन्दलीन होना है—और यह कार्य मुख्य पात्र के द्वारा ही सम्पादित होना चाहिए था। "इस प्रकार कामायनी निस्सन्देह ही रूपक है। प्रसादजी ने कथा के मूल तत्वों को ऐतिहासिक मानते हुए उनके आधार पर ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना का उपक्रम किया था। किन्तु कथा का सांकेतिक रूप उनके मन में प्रारम्भ से अन्त तक वर्तमान था और मन के विकास का प्राचीन रूपक उनको वैसे भी प्रिय था।"[3]

शुक्लजी द्वारा किये गये उपर्युक्त आक्षेपों के अतिरिक्त 'कामायनी' के रूपकत्व के सम्बन्ध में निम्नलिखित शंकाएँ भी व्यक्त की जाती हैं—

(अ) रूपक काव्य के पात्र और घटनाएँ अधिकांशतः कल्पित होते हैं जबकि 'कामायनी' का कथानक ऐतिहासिक है।

(आ) जलप्लावन के समय तथा सारस्वत नगर में प्राय एक जैसी संहारक घटनाएँ घटती हैं। अतः इनमें से प्रथम को अन्नमय कोश तथा दूसरे को प्राणमय कोश कह कर भेद करना उचित नहीं है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६६१

२. देखिए, 'विचार और विश्लेषण', पृष्ठ ७६

३. विचार और विश्लेषण (डॉ० नगेन्द्र), पृष्ठ ७३

(इ) मनु और मानव दोनों में लगभग समान प्रतीकत्व का नियोजन हुआ है।

इन आक्षेपों में, वास्तव में, बल नहीं है, क्योंकि (अ) 'कामायनी' का आधार इतिहास होने पर भी उसमें आद्योपान्त कल्पना का समावेश रहा है। सभी पात्रों के ऐतिहासिक व्यक्तित्व के साथ-साथ उनकी कवि-कल्पित सूक्ष्म अनुभूतियाँ भी सर्वत्र विद्यमान हैं। अतः प्रतीक-निर्वाह में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। (आ) जल-प्लावन के समय विलासातिरेक के कारण देव-सृष्टि का पूर्ण विनाश होता है। देवता एक-दूसरे के लिए 'बड़ी मछली' बनकर सृष्टि को समाप्त करने लगे। इसके विपरीत सारस्वत नगर में ऐसी स्थिति नहीं है। वहाँ मनु का विलास कारण अवश्य है, किन्तु साथ ही श्रद्धा की सहानुभूति, मनु का निर्वेद आदि मनु के बचाव के प्रबल आधार हैं जिनकी सहायता से वे अन्नमय कोश तक पहुँचते हैं। वैसे भी, प्राणमय कोश की स्थिति अन्नमय कोश से ऊँची है। अतः जलप्लावन और सारस्वत नगर की घटनाओं में समानता नहीं माननी चाहिए। (इ) मनु और मानव के प्रतीकत्व में भी प्रसादजी ने स्पष्ट रूप में भेद-रेखा खींची है। मनु अपनी अन्तिम अवस्था में ही पूर्णता को प्राप्त कर सके थे, जबकि मानव ने प्रारम्भ से ही पूर्णता का परिचय दिया है। मनु और श्रद्धा के प्रभावों को इड़ा से ग्रहण करके उसकी पूर्णता का विधान किया गया है। एक अन्य दृष्टि से भी इसपर विचार किया जा सकता है। मनु और मानव-सम्बन्धी प्रतीकत्व की असंगति से स्वयं प्रसादजी भी अपरिचित न थे। इसी कारण उन्होंने आनन्द-लोक की यात्रा से पूर्व सारस्वत नगर में ही श्रद्धा द्वारा मानव का परित्याग करवा दिया था। तदनन्तर कैलाश-यात्रा के पश्चात् उन्होंने मानव को मनु की चित्सत्ता में लीन करा दिया है। इस प्रकार, दोनों ही दृष्टियों से, मनु और मानव के प्रतीकत्व का समर्थन किया जा सकता है।

वस्तुतः रूपक-तत्त्व के सफल निर्वाह की दृष्टि से 'कामायनी' अप्रतिम रचना है। इसके प्रत्येक पात्र तथा घटना का ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, साथ ही मनोविज्ञान-सम्बन्धी सांकेतिक अर्थ भी अत्यन्त व्यक्त है। वह मूल कथा का सहायक बन कर आया है। अन्य कवियों को द्वियर्थक कथा की सिद्धि के लिए प्रायः मूलकथा में परिवर्तन करना पड़ा है, किन्तु कामायनीकार इस दोष से सर्वथा मुक्त है। जहाँ-कहीं थोड़ा बहुत परिवर्तन है वह वैज्ञानिकता की दृष्टि से है, रूपक के निर्वाह के लिए नहीं। 'कामायनी' में सांकेतिक अर्थ की सिद्धि के लिए मूल कथा को गौण नहीं बनाया गया, पात्रों के मुख से सर्वथा असम्बद्ध उक्तियाँ नहीं कहलाई गईं और न ही ऐसे पात्रों अथवा घटनाओं का समावेश किया गया है जिनसे रूपकात्मक व्यंजना न होती हो। यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो जायसी के 'पद्मावत' में इस प्रकार के दोष उभर आए हैं। उसका ऐतिहासिक कथानक आध्यात्मिक पक्ष की प्रधानता के बोझ से दब गया है। रत्नसेन दस द्वारों के चक्कर में पड़ जाता है और

कथा विशृंखल हो जाती है। इतना ही नहीं, पद्मावतकार को जहाँ-कहीं आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का अवसर मिला है, वहाँ वह अपनी लेखनी पर नियन्त्रण नहीं रख सका। उसके वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दो भिन्न दिशाओं में चले गए हैं—स्वाभाविक न होकर आरोपित बन गए हैं। किन्तु, 'कामायनी' का रूपक-तत्त्व इन आरोपों से मुक्त रहा है। इसी कारण प्रबन्ध-काव्यों के क्षेत्र में 'कामायनी' की यह रूपकात्मकता और सुगठित वस्तु-योजना नव्य ही नहीं, प्रश्नातीत हो गई है।

यह भी ज्ञातव्य है कि रूपक का निर्वाह और वह भी अनेक पात्रों व घटनाओं के सन्दर्भ में, सरल कार्य नहीं है। स्वयं प्रसादजी ने 'कामायनी' को रूपक-काव्य न मानकर इसमें रूपक की सम्भावनाओं का संकेत मात्र किया है। अतः 'कामायनी' में एकाध प्रसंग में रूपकत्व के शिथिल नियोजन को काव्य-कौशल की असमर्थता नहीं मानना चाहिए। यह तो अप्रस्तुत के विरुद्ध प्रस्तुत की, परोक्ष के विरुद्ध प्रत्यक्ष की और आदर्श के विरुद्ध यथार्थ की सामयिक शक्ति है। 'कामायनी' का रूपक-तत्त्व भी अपनी शक्तियों के बावजूद इसका अपवाद कैसे रह सकता था!



७

अंगी रस

काव्यशास्त्रियों ने रस को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अतः किसी भी काव्य-कृति में रस की सहज अन्तर्व्याप्ति रहती है। प्रबंध-काव्य में तो रसों का संचरण और भी अधिक होता है। वस्तुतः प्रबन्ध-काव्य में जीवन और जगत् के वैविध्य का चित्रण किया जाता है। अतः विविध घटनाओं एवं परिस्थितियों के अनुकूल उसमें विभिन्न रसों की स्थिति रहती है। किन्तु, इन सभी रसों में महाकाव्य में एक रस तो आद्योपान्त उपलब्ध रहता है और शेष गौण होते हैं। अर्थात् महाकाव्य में एक रस अंगी के रूप में विद्यमान रहना चाहिए तथा शेष रस अंग-रूप में। ये अंगभूत रस संचारी भावों के समान उन्मग्न-निमग्न होकर अंगी रस को पुष्ट करते रहते हैं।

महाकाव्य में अंगी रस के रूप में किस रस को स्थान दिया जाए, इस सम्बन्ध में प्रायः सभी आचार्य सहमत हैं। उन्होंने एक स्वर से यह प्रतिपादित किया है कि महाकाव्य में शृंगार, वीर अथवा शान्त में से किसी एक रस को अंगी रस के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। काव्य-रूप की दृष्टि से 'कामायनी' महाकाव्य की कोटि में आती है। अतः यह अपेक्षित है कि उसमें भी इन तीनों रसों में से किसी एक को अंगी रस के रूप में स्वीकार किया गया हो तथा शेष रस उसके सहायक हों।

अंगी रस के निर्धारण के लिए कुछ विशेष नियम हैं। निम्नलिखित कसौटियों पर उसका पूरा उतरना आवश्यक है— (अ) निरन्तर व्याप्ति, (आ) प्रमुख पात्र की मूलवृत्ति से सम्बन्ध, (इ) उद्देश्य और फलागम का आस्वाद रूप, (ई) मूल प्रभाव का व्यंजक।

इसी आधार पर हम 'कामायनी' के अंगीरसत्व पर विचार करेंगे। इस ग्रन्थ में विभिन्न रसों की स्थिति इस प्रकार रही है—

(१) वात्सल्य रस :

'कामायनी' मे वात्सल्य रस का निरूपण 'ईर्ष्या' व 'स्वप्न' सर्गों मे हुआ है। 'ईर्ष्या सर्ग' मे श्रद्धा द्वारा अपने भावी पुत्र के लिए झूले आदि का वर्णन करने मे हृदय का वात्सल्य मुखरित हो उठा है। 'स्वप्न' सर्ग की निम्नांकित पक्तियां तो इस रस का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हैं—

"माँ—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय मे लेकर उत्कंठा दूनी।"

इन पक्तियो में आलम्बन के रूप में श्रद्धा का पुत्र मानव है। उसके द्वारा 'माँ' शब्द का उच्चारण और तदनन्तर किलकारी आदि भरना उद्दीपन हैं। उत्कंठित श्रद्धा का उसे लेने के लिए दौड़ पड़ना अनुभाव है। हर्ष, औत्सुक्य, चपलता आदि सचारी भाव हैं। इस प्रकार यहाँ वात्सल्य की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु यह ज्ञातव्य है कि इस प्रकार के प्रसग 'कामायनी' में अत्यल्प ही हैं, अत इसे अगी रस नही माना जा सकता।

(२) भयानक रस :

भयानक रस का निरूपण प्रसादजी ने मुख्यत 'चिन्ता' सर्ग में किया है। प्रलय के विनाश को देख कर मनु चिन्तित हैं। उनके हृदय मे भय का आधिपत्य है। एक उदाहरण लीजिए—

"उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ, कुटिल काल के जालों-सी,
चली आ रहीं फेन उगलती, फन फैलाये व्यालों सी।
धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निश्वास
और सकुचित क्रमश. उसके अवयव का होता था ह्रास।"

इन पक्तियों में सिन्धु की भीषण लहरें आलम्बन हैं। मनु आश्रय हैं, जो इन लहरों के गर्जन, उनके सर्प के समान बढ़ने, पृथ्वी के धँसने और ज्वालामुखी फूट पड़ने आदि का दृश्य देख कर उद्दीपन का अनुभव करते हैं। मनु का नाव में बैठकर जाना, चिन्ता-कातर होना आदि अनुभावों के रूप में वर्णित हुए हैं और स्मृति, विषाद, कातरता आदि सचारी भाव हैं।

'चिन्ता' सर्ग के अतिरिक्त 'स्वप्न' एव 'सघर्ष' सर्गों में भी भयानक रस से सम्बन्धित दो-चार स्थल हैं, किन्तु स्फुट व्याप्ति अथवा मुख्य पात्र की मूलवृत्ति से सम्बन्ध न होने के कारण इस रस को भी 'कामायनी' में मुख्य स्थान नहीं मिला है।

(३) वीर रस :

वीर रस के लिए 'कामायनी' मे अधिक अवकाश नही रहा। इसका कथानक चिन्तन प्रधान होने के कारण उसमें बाह्य सघर्ष की न्यूनता रही है। केवल 'सघर्ष'

सर्ग में इड़ा के प्रति मनु के बलात्कार की असफल चेष्टा के समय सारस्वत नगर की क्षुब्ध प्रजा से मनु के युद्ध-वर्णन में इस रस की किंचित् अभिव्यक्ति हुई है—

"झंपड़ या बढ़ रहा, प्रजा-दल-सा झुंझलाता,
रण-वर्षा में शस्त्रों-सा बिजली चमकाता;
किन्तु क्रूर मनु वारण करते उन बाणों को,
बढ़े कुचलते हुए खड्ग से जन-प्राणों को।
आहत पीछे हटे, स्तम्भ से टिक कर मनु ने,
श्वास लिया, टंकार किया दुर्लक्ष्यी मनु ने।"

इन पंक्तियों में सारस्वत नगर की प्रजा एवं आकुलि-किलात नामक राक्षस-गण आलम्बन हैं। उनकी तीव्र गति व शस्त्र-चालन का कौशल उद्दीपन है। मनु द्वारा शस्त्र-प्रहार को रोकना और अलात चक्र की भाँति घूमते रहना अनुभाव के रूप में वर्णित हुए हैं। आवेग, मद, उग्रता, औत्सुक्य आदि की कल्पना संचारी भाव के रूप में हुई है।

(४) करुण, वीभत्स, रौद्र, अद्भुत रस :

इसी प्रकार स्फुट रूप में 'कामायनी' में अन्य रस भी उपलब्ध हैं। मनु के चिन्तन में कहीं-कहीं करुण रस, सारस्वत नगर-वासियों द्वारा उनके युद्ध-वर्णन में रौद्र रस, मनु द्वारा किये गए यज्ञों के हिंसात्मक कर्मों में वीभत्स रस (दारुण दृश्य रुधिर के छींटे, अस्थि-खंड की माला) आदि का चित्रण हुआ है। शिव के ताण्डव नृत्य तथा त्रिलोक-दर्शन के प्रसंगों में अद्भुत रस की स्थिति मानी जा सकती है। हाँ, इस चिन्तन-प्रधान महाकाव्य में हास्य रस का कोई भी प्रसंग अवश्य नहीं आ पाया है।

(५) शृंगार एवं शान्त रस :

आधिक्य की दृष्टि से 'कामायनी' में शृंगार व शान्त रसों का आद्योपान्त नियोजन है। शृंगार के दोनों पक्षों को इसमें ग्रहण किया गया है—'ईर्ष्या' सर्ग तक संयोग शृंगार मिलता है, 'इड़ा' सर्ग में उसके वियोग पक्ष का निरूपण है। 'स्वप्न' में प्रवास की भी चर्चा है। इसी प्रकार, शृंगार के साथ-साथ शान्त रस भी सम्पूर्ण ग्रन्थ में व्याप्त रहा है। प्रारम्भिक सर्गों (चिन्ता, आशा) में मनु का शान्त चिन्तन अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। अन्तिम सर्गों में तो इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा है। श्रद्धा और मनु का उस आनन्द-लोक की ओर प्रस्थान करना जहाँ सदैव शान्ति है तथा सभी अपने हैं, और उस आनन्द-लोक में पहुँच कर अखण्ड आनन्दावस्था में तन्मय हो जाना शान्त रस के द्योतक हैं। चिन्ता, आशा, निर्वेद, रहस्य, आनन्द आदि सर्ग इसी रस को अंगीकार करते हैं।

इस प्रकार अन्य रसों की अपेक्षा 'कामायनी' में दो रस अधिक ग्रहण किए

गए हैं—शान्त तथा शृंगार। शेष रस इतने क्षणिक हैं कि उन्हें इस महाकाव्य का अंगी रस कदापि नहीं माना जा सकता। शान्त और शृंगार में से भी शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार शान्त रस ही 'कामायनी' का अंगी रस सिद्ध होता है। अतः हम अंगी रस के लिए मान्य चारों आवश्यकताओं के आधार पर इसका विवेचन करेंगे।

१ निरन्तर व्याप्ति :

निरन्तर व्याप्ति की दृष्टि से शान्त रस 'कामायनी' में आद्योपान्त उपलब्ध है। स्थान-स्थान पर मनु के चिन्तन में श्रद्धा की उक्तियों में तथा 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनन्द' सर्गों में शान्त रस पूर्णतः प्रसरित रहा है। इसके विपरीत शृंगार रस केवल 'कामायनी' के पूर्वार्ध में ही है, उत्तरार्ध में शृंगार के लिए कोई स्थान नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि इस महाकाव्य के पूर्वार्ध में शृंगारादिक के कारण शान्त रस दब-सा गया है, किन्तु वह विद्यमान अवश्य रहा है। अतः न्यूनाधिक रूप में इस कृति में शान्त रस सर्वत्र प्रवाहित है।

२ मुख्य पात्र की मूल वृत्ति से सम्बन्ध

अंगी रस प्रायः महाकाव्य के नायक-नायिका या मुख्य पात्र की मूल प्रवृत्ति से सम्बद्ध रहता है। 'कामायनी' की प्रमुख पात्रा श्रद्धा है—और उसकी प्रवृत्ति रति की अपेक्षा शम भाव की ओर है। मनु भी इसके प्रमुख पात्र हैं। वे भी पहले शृंगार-प्रिय हैं, किन्तु अन्तिम सर्गों में पहुँचते-पहुँचते पूर्णतः शान्त रस के उपासक बन जाते हैं।

३ उद्देश्य का आस्वाद-रूप :

'कामायनी' का मूल लक्ष्य है—समरसता की प्राप्ति। यह सामरस्य काम में लिप्त होने पर नहीं मिलता, वरन् जब मनु जीवन से पूर्णतः विरक्त होकर इच्छा, ज्ञान और क्रिया के समन्वय की महत्ता जान लेते हैं, तभी उन्हें सामरस्य की प्राप्ति होती है। अतः इस दृष्टि से भी शान्त रस ही अंगी रस ठहरता है।

४ मूल प्रभाव का व्यंजक

'कामायनी' का अध्ययन करने के उपरान्त पाठक के मन में शृंगार की अनुभूति नहीं रहती। वह पूर्णतः शान्त रस में डूब चुकता है। अन्तिम सर्गों में शृंगार का लेशमात्र भी वर्णन न होने के कारण पाठक को पूर्व-वर्णित शृंगारिक घटनाएँ सर्वथा भूल जाती हैं और वह सामरस्य में लीन हो जाता है। अतः मूल प्रभाव का व्यंजक शान्त रस ही है। प्रसादजी का उद्देश्य भी पाठक का शृंगार की ओर उन्मुख करना न होकर शान्त रस की प्रतीति कराना है।

अंगी रस की मौलिक कल्पना

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'कामायनी' का अंगी रस शृंगार न होकर शान्त है। किन्तु, शान्त रस को भी शुद्ध रूप में इस महाकाव्य का प्रमुख रस नहीं माना जा सकता। श्रद्धा की मूल प्रवृत्ति शान्त रस की द्योतक नहीं है। वह जीवन के प्रति निर्वेद भाव का उल्लंघन करती है। वह निवृत्ति की प्रतीक न होकर प्रवृत्ति की प्रतीक है। अतः काव्यशास्त्र के शान्त रस में उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। वस्तुतः प्रसादजी ने सीमित काव्यशास्त्रीय अर्थ में 'कामायनी' में अंगी रस की योजना नहीं की। परम्परा-प्राप्त नौ अथवा दस रसों में से उन्होंने किसी को ग्रहण नहीं किया। सभी रसों के अन्तिम लक्ष्य अर्थात् आत्मतोष को ही उन्होंने मूल रस माना है।

प्रसादजी की व्यक्तिगत जीवन-चर्या और उनके काव्य में उपलब्ध दार्शनिक विवेचन से स्पष्ट है कि वे शैव-दर्शन के अनुयायी थे। इसी कारण उनकी रसकल्पना भी शैव-दर्शन की मान्यताओं से अनुप्राणित रही है। शैव-दर्शन में आनन्द-भाव की मान्यता है, जिसमें शृंगार और शान्त, दोनों का संस्पर्श रहता है। प्रसादजी ने 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' में इस ओर संकेत भी किया है—"शैवागम के आनन्द-सम्प्रदाय के अनुगामी रस की दोनों सीमाओं शृंगार और शान्त को स्पर्श करते थे। यह शान्त रस निस्तरंग महोदधिकल्प समरसता ही है।" 'कामायनी' में इस समरसताजन्य आनन्द-रस का ही प्रामुख्य है। अंगी रस के लक्षणों पर भी यह पूर्ण उतरता है। आरम्भ से अन्त तक इसी आनन्द या आत्मरस की व्याप्ति है। शृंगार और शान्त के विरोध का इसमें परिहार हो जाता है। पूर्वार्द्ध में उद्दाम 'शृंगार' और उत्तरार्द्ध में 'शान्त' का नियोजन करके शैवों के इस रस की प्रतिष्ठा की गई है। 'कामायनी' का अन्तिम प्रभाव भी रति अथवा शममूलक नहीं है। वहाँ तो अखण्ड आनन्द या सामरस्य की सत्ता शेष रह जाती है। फलागम की उपलब्धि अर्थात् मनु द्वारा समरसता की प्राप्ति भी इसी सामरस्यजन्य आनन्द द्वारा सिद्ध हो जाती है। अतः किसी भी दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट है कि 'कामायनी' का अंगी रस आनन्द या सामरस्य है।

एक अन्य दृष्टि से विचार करने पर भी 'आनन्द' का अंगीरसत्व स्पष्ट है। 'कामायनी' की प्रबन्ध-कल्पना में मानव-सृष्टि के विकास सम्बन्धी कथानक के साथ-साथ मनोवैज्ञानिक (मनस्तत्त्वपरक विवेचन) आधार भी ग्रहण किया गया है। मानव-मन की प्रमुख प्रवृत्ति शृंगार में निमग्न होना है। शृंगार का उद्दाम भोग करने पर मन में क्रमशः निर्वेद का संचार होता है अर्थात् वह शान्त रस की ओर उन्मुख होने लगता है। 'कामायनी' में मनु मन के प्रतीक हैं। इसी कारण उनके व्यक्तित्व में मन की उपर्युक्त दोनों विशेषताओं को दिखाते हुए पहले तो शृंगार का प्रचुर प्रति-

पादन किया गया है तथा बाद में शान्त रस का एकान्त नियोजन। और, इस प्रकार इन दोनों के समन्वय द्वारा आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की गई है।

यद्यपि 'कामायनी' के अंगी रस (आनन्द या सामरस्य) का उल्लेख काव्यशास्त्र की स्वीकृत शब्दावली में उपलब्ध नहीं है तथापि वह जीवन का मूल रस है। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का मतभेद नहीं हो सकता। इस रसानुभूति से जिस आनन्द की प्राप्ति होती है वह साधारण आनन्द न होकर 'ब्रह्मानन्द सहोदर' है। इसी आनन्दवाद की सिद्धि 'कामायनी' का लक्ष्य है—

"समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखंड घना था।"

यदि काव्यशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में ही 'कामायनी' के अंगी रस का निर्धारण करने का आग्रह हो तो इसे 'उदात्त शान्त रस' माना जा सकता है। अत: स्थूल दृष्टि से रस-निर्धारण करते समय साहित्यशास्त्र के आधार पर तो शान्त रस ही 'कामायनी' का अंगी रस सिद्ध होता है, किन्तु दर्शन की भूमि पर सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक अध्ययन करने के अनन्तर यह स्पष्ट है कि शैवागमों के आनन्द या समरसता को यह गौरव दिया जाना चाहिए। प्रसादजी ने इसी अखण्ड आनन्द को अंगी रस के रूप में प्रतिष्ठित किया है। 'कामायनी' के मर्मज्ञ आलोचक डॉ० नगेन्द्र ने भी इस ग्रन्थ की रस-योजना पर विचार करते समय यही दृष्टिकोण व्यक्त किया है। उनके अनुसार—"कामायनी में अनेक रस हैं, किन्तु वे शैवागम की साम्प्रदायिक शब्दावली में 'आनन्द रस' और अभिनव गुप्त की शास्त्र-सम्मत शब्दावली में तात्त्विक अर्थ में 'शान्त रस' के विकार मात्र हैं। ×××× अभिनव प्रतिपादित शान्त शैवागम के आनन्द रस का ही पर्याय है 'काव्यशास्त्र में रूढ़ शान्त रस में उसे सीमित करना अभिनव की दार्शनिक पार्श्वभूमिका के विरुद्ध होगा, प्रसाद की चिन्तन-परम्परा के प्रतिकूल होगा और कामायनी के प्रतिपाद्य तथा स्वरूप के भी प्रतिकूल होगा। जिस प्रकार कामायनी के तत्त्व-दर्शन में अभेद-कल्पना का आग्रह है, उसी प्रकार उसके रस-दर्शन में भी। ×××× कामायनी के पूर्वार्द्ध में शृंगार और उत्तरार्द्ध में शान्त के प्राधान्य का यही रहस्य है। पूर्वार्द्ध के उद्दाम शृंगार का उत्तरार्द्ध के शान्त में विलय सामान्य काव्यशास्त्रीय अर्थ में सम्भव नहीं है, क्योंकि शृंगार शान्त का विरोधी रस है, ×××× पर यहाँ तो शृंगार और शान्त दोनों परस्पर-विरोधी न होकर सामरस्य रूप आनन्द या शान्त रस की दो सीमाएँ हैं। ×××× अत: कामायनी का अंगी रस भारतीय रस-सिद्धान्त का आधारभूत आनन्द रस ही है, जिसका दूसरा नाम मौलिक अर्थ में शान्त भी है।"[1]

---

1 कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृष्ठ ३५-३६

८

भाषा-सौन्दर्य

भावों और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा को सर्वाधिक सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया है। साहित्यकार भी अपने भावों की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही करते हैं। अतः साहित्य-सर्जना के क्षेत्र में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि यदि भाषा सशक्त होगी तो साहित्यकार के भावों की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाएगी, किन्तु यदि भाषा अशक्त हुई तो साहित्यकार के भाव अस्पष्ट ही रह जाएँगे तथा उसका साहित्य चिर स्थायी नहीं बन सकेगा।

प्रसादजी अपने युग के अत्यन्त प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। काव्य तथा गद्य के क्षेत्र में प्रचलित प्रायः सभी विधाओं को उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा समृद्ध किया। भाव, भाषा और शैली के क्षेत्रों में प्रयोग करते हुए उन्होंने हिन्दी-साहित्य को 'कामायनी' और 'चन्द्रगुप्त' सरीखी प्रौढ़ रचनाओं से अलंकृत किया। उनके सम्पूर्ण साहित्य में भावना एवं भाषा-शैली का पूर्ण उत्कर्ष मिलता है। वस्तुतः वे अनुभूति और अभिव्यक्ति को पृथक्-पृथक् देखने के पक्ष में नहीं हैं। उनकी मान्यता है कि यदि कवि में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति का तीव्र आवेग है, तो उसकी अभिव्यक्ति निस्सन्देह सुन्दर एवं समर्थ होगी। 'काव्य और कला' शीर्षक निबन्ध में इस विचार को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—"व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है। क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौन्दर्यपूर्ण होगा ही।"

'कामायनी' में भी उनके भावों एवं भाषा में अपूर्व सौन्दर्य निहित है। काव्य-रूप की दृष्टि से यह कृति महाकाव्य की कोटि में आती है। महाकाव्य के लिए एक आवश्यक प्रतिबन्ध यह है कि उसकी प्रतिपादन-शैली क्षुद्र न हो कर गम्भीर-उदात्त एवं नानावर्णनक्षमा होनी चाहिए। ग्रीक आचार्य लांजाइनस ने तो काव्यगत औदात्य

का स्पष्ट कथन किया है। 'कामायनी' में महाकाव्य विषयक इस विशेषता का सफल निर्वाह किया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि 'कामायनी' की रचना प्रसादजी ने अपनी प्रौढ़ अवस्था में की थी। अतः इस दृष्टि से भी उसमें सशक्त भाषा का प्रयोग किया जाना स्वाभाविक था।

भाषा को भावाभिव्यक्ति में सक्षम बनाने के लिए अनेक उपादानों का प्रयोग किया जाता है। उसमें औदात्य एवं गतिशीलता की रक्षा के लिए शब्दशक्तियों, वक्रोक्ति, प्रतीक, अलंकार, काव्य-गुण तथा मुहावरे और लोकोक्तियों का आश्रय लिया जाता है। इसके अतिरिक्त शब्द-संग्रह, शब्द-लालित्य आदि की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। कामायनीकार इन विविध प्रसाधनों द्वारा अपनी काव्य भाषा को समृद्ध करने के प्रति पर्याप्त सजग रहा है। अब हम आलोच्य कृति में इनके सौन्दर्य का पृथक्-पृथक् उद्घाटन करेंगे।

१ 'कामायनी' में शब्दशक्तियाँ

शब्द की मुख्यतः तीन शक्तियाँ मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना। किसी शब्द से साक्षात् संकेतित अर्थ की प्रतीति कराने वाली शब्दशक्ति अभिधा है। कभी-कभी शब्द के मुख्य अर्थ को ग्रहण कर लेने पर भी काव्यगत सौन्दर्य की उपलब्धि नहीं हो पाती। इसी कारण कुशल कवि इसके अधिक प्रयोग से बचने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु इसका एकान्त तिरस्कार करना सम्भव नहीं है। प्रसादजी ने भी वर्णनात्मक स्थलों पर अथवा विभिन्न कथा-सूत्रों का संयोजन करते समय इसके सरल एवं सुबोध स्वरूप को ग्रहण किया है। 'स्वप्न' सर्ग में सारस्वत नगर के इतिवृत्त का वर्णन करते समय अथवा 'आनन्द' सर्ग के प्रारम्भिक छन्दों में अभिधा के माध्यम से ही भावाभिव्यक्ति की गई है।

प्रसादजी ने अभिधा की अपेक्षा लक्षणा एवं व्यंजना का आश्रय अधिक लिया है। लाक्षणिक एवं व्यांजनिक शब्दों का प्रयोग कवि अपनी आन्तरिक अभिव्यक्ति के लिए करता है। अभिधेयार्थ में बाधित होकर इन शब्दों में नई तड़प उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। काव्योपयोगी होने के कारण लाक्षणिक प्रयोग वैसे तो प्राचीन काव्य में भी उपलब्ध हैं, किन्तु हिन्दी के छायावादी काव्य में इसका चरम उत्कर्ष पाया जाता है। छायावाद के श्रेष्ठ निदर्शन 'कामायनी' का तो प्रत्येक पृष्ठ लाक्षणिक भंगिमाओं से मुखर हो उठा है। केवल एक उदाहरण देखिये—

"वह प्रभात का हीन कला शशि, किरन कहाँ चाँदनी रही,
वह सन्ध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ।"

इस उदाहरण में श्रद्धा को 'प्रभात का हीन कला शशि' और 'सन्ध्या' का

कर सम्बोधित करना बाधित है। फिर भी इन दोनों में सादृश्य सम्बन्ध होने के कारण यह कल्पना निराधार नहीं कही जा सकती। जिस प्रकार प्रभातकालीन चन्द्रमा अथवा सान्ध्य-वेला निस्तेज होते हैं, उसी प्रकार श्रद्धा भी अब मनु के वियोग में तेजहीन हो गई थी। भावों का यह सौन्दर्य लक्षणा द्वारा ही सम्भव हो सका है।

२ 'कामायनी' में वक्रोक्तिगत सौन्दर्य :

वक्रोक्ति अभिव्यक्ति की उस प्रणाली को कहते हैं जिसके द्वारा कथन में एक विशिष्ट चमत्कार उत्पन्न किया जाए। सामान्य व्यवहार में सहज कथन से बचने की प्रवृत्ति को अधिक श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता, किन्तु काव्य में गूढ़ अन्तर्दशाओं का वर्णन होने के कारण वक्रतापूर्ण अभिव्यंजना को शैली का गुण माना गया है। वक्रोक्ति के अनेक भेद-प्रभेद किए जा सकते हैं। प्रसादजी ने इनमें से अधिकांश का प्रयोग किया है। प्रमुखता की दृष्टि से उन्होंने वर्णविन्यास, उपचार, विशेषण, संवृत्ति, संख्या, उपसर्ग, निपात आदि से सम्बद्ध वक्रताओं का उपयोग करके भावों में वैदग्ध्य का समावेश किया है। 'कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती' अथवा 'कल कपोल था जहाँ बिछलता कल्पवृक्ष का पीत पराग' जैसी पंक्तियों में वर्णविन्यास वक्रता का सौन्दर्य द्रष्टव्य है।

इसी प्रकार संवृति वक्रता के क्षेत्र में भी आलोच्य कवि ने सफलतापूर्वक भावाभिव्यक्ति की है। इस प्रकार की वक्रता में सर्वनामादि के माध्यम से भावों का संवरण करके सौन्दर्य-विधान किया जाता है। 'कामायनी' के काम, वासना, लज्जा, ईर्ष्या आदि सर्गों के अनेक भावों में इसका रुचिर प्रयोग किया गया है। एक उदाहरण देखिये—

"वे फूल और वह हँसी रही, वह सौरभ, वह निश्वास छना,
वह कलरव, वह संगीत अरे, वह कोलाहल एकान्त बना।"

यहाँ देवताओं की हँसी, उल्लास, चहल-पहल और संगीतमय वातावरण अतुलनीय था। अतः 'वह' शब्द द्वारा इनके सौन्दर्य का संवरण किया गया है।

३. 'कामायनी' में प्रतीक-विधान :

'प्रतीक' से हमारा तात्पर्य उस शब्द-विशेष से है जो किसी भाव अथवा विशेषता का द्योतन कराने के लिए जन-समाज में परम्परा तथा रूढ़ि के कारण प्रचलित हो गया है। भावों की सफल अभिव्यक्ति के लिए ये अत्यंत काव्योपयोगी उपकरण हैं। छायावादी काव्य में तो इनका प्रचुर प्रयोग किया गया है।

'कामायनी' में प्रयुक्त प्रतीकों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—रूढ़ तथा

कवि-निर्मित या स्वच्छन्द। अधिकांश कवियों द्वारा प्रयुक्त होते रहने के कारण कुछ प्रतीकात्मक शब्द बहुत प्रचलित हो जाते हैं। इन्हें रूढ़ प्रतीक कहा जाता है। 'काँटे' और 'कुसुम' का प्रतीकत्व ऐसा ही है—

"मुझको काँटे ही मिलें धन्य ! हों सफल तुम्हें ही कुसुम-कुंज।"

यहाँ 'काँटे' को जीवन की बाधाओं और विषमताओं के लिए तथा 'कुसुम' को सुख और ऐश्वर्य के लिए प्रयुक्त किया गया है। प्राय सभी कवियों ने इन्हीं अर्थों के भावन के लिए इन प्रतीकों का आश्रय लिया है, अत ये रूढ़ प्रतीक हैं।

शैव-दर्शन का प्रतिपादक ग्रन्थ होने के कारण 'कामायनी' मे इस मत के सैद्धान्तिक प्रतीकों को भी ग्रहण किया गया है। गोलक (ज्योतिष-पिंड), अणु (तुच्छ जीव), भूमा (सामरस्य की स्थिति), कारणजलधि (ब्रह्म) आदि इसी प्रकार के सैद्धान्तिक प्रतीक हैं।

प्रसादजी ने कतिपय नवीन प्रतीकों की योजना की है। बासी फूल (म्लान भाव), रजनी के पिछले पहर (किशोरावस्था के बाद का समय), मतवाली कोयल (हृदय का उल्लास), नक्षत्र (ज्ञानी) आदि स्वच्छन्द प्रतीक हैं। वस्तुत प्रसादजी ने प्रतीकों की उदात्त योजना द्वारा अपनी भाषा को नवीन अर्थवत्ता प्रदान की है।

४ कामायनी' मे शब्दालकार :

शब्दालकारों मे कुछ विशिष्ट वर्णों या शब्दों की योजना करके अभिव्यञ्जना में चारुता उत्पन्न की जाती है तथा उनके स्थान पर समानार्थी शब्दो का प्रयोग करने से वह चमत्कार नष्ट हो जाता है। अर्थालकारों का प्रयोग तो भावो के उत्कर्ष के लिए किया जाता है, किन्तु शब्दालकार भाषा से प्रत्यक्षत सम्बद्ध हैं। अत काव्य-भाषा का अध्ययन करते समय इनका विवेचन करना आवश्यक है।

'कामायनी' में अर्थालकारों की अपेक्षा शब्दालकारों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। वस्तुत आलोच्य कवि न शब्दों से खिलवाड करने की प्रवृत्ति को अधिक उचित नहीं समझा ; फिर भी, अनुप्रास, यमक, श्लेष, वीप्सा, पुनरुक्तिप्रकाश, विशेषण विपर्यय, अर्थव्यञ्जन आदि के प्रयोग से भाषा में रुचिरता का समावेश किया गया है। पुनरुक्तिप्रकाश और अर्थव्यञ्जन का क्रमश एक-एक उदाहरण देखिये—

(अ) "धीरे-धीरे लहरों का दल, तट से टकरा होता ओझल,
छप छप का होता शब्द विरल, थर-थर कँप रहती दीप्ति तरल।"

(आ) "धू-धू करता नाच रहा था, अनस्तित्व का ताडव नृत्य।"

५. 'कामायनी' और काव्य-गुण :

काव्य-गुणों की संख्या के सम्बन्ध में आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है, किन्तु आनन्दवर्द्धन, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने तीन गुणों—माधुर्य, ओज, प्रसाद—को ही स्वीकृति प्रदान की है। कामायनीकार ने इन तीनों गुणों का यथास्थान निरूपण करके अपनी काव्य-भाषा को भाव तथा रस के अनुकूल रखा है। माधुर्य गुण को तो उसमें विशिष्ट स्थिति रही है। देखिए—

"लाली बन सरल कपोलों में, आँखों में अंजन-सी लगती,
कुंचित अलकों-सी घुँघराली, मन की मरोर बनकर जगती।"

इन पंक्तियों में स, ब, न, ल, र आदि कोमल वर्णों तथा अनुस्वारमयी पदावली के कारण माधुर्य गुण की योजना हुई है। प्रान (प्राण), मरोर (मरोड़), पास (पाश), नखत (नक्षत्र), थिर (स्थिर) आदि शब्दों में कर्ण-कटु वर्णों के स्थान पर कोमल वर्णों की योजना करके भी माधुर्य-रक्षा की गई है।

चिन्ता, इड़ा, और संघर्ष नामक सर्गों में कवि ने ओज गुण का नियोजन किया है। प्रलय-वर्णन तथा मनु और सारस्वत नगर की प्रजा के युद्ध के समय ओज-गुणमयी शब्दावली का व्यवहार हुआ है। प्रसाद गुण के निर्वाह की ओर भी प्रसाद जी सजग रहे हैं। इसी कारण 'कामायनी' में अधिकांशतः सहज अर्थवाही शब्दों को ग्रहण किया गया है, किन्तु तत्सम शब्दों के बहुल प्रयोग और सांकेतिक (लाक्षणिक) अभिव्यक्ति की प्रचुरता के कारण उसकी भाषा के प्रसादत्व में व्याघात भी पहुँचा है। कथानक की रूपकात्मकता और शैव-दर्शन की अभिव्यक्ति के कारण पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी प्रसाद गुण की अभिव्यंजना में बाधक रहा है। किन्तु इससे प्रस्तुत कृति की महत्ता कम नहीं होती। वस्तुतः 'कामायनी' एक साहित्यिक कृति है—अतः उसमें सांकेतिक अभिव्यक्ति को दोष नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'कामायनी' में माधुर्य गुण को मूलवर्ती स्थान प्राप्त हुआ है। इसके बाद क्रमशः प्रसाद और ओज गुणों की स्थिति रही है।

६. 'कामायनी' में मुहावरे-लोकोक्ति :

मुहावरे-लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा में सहजता तथा प्रभावोत्पादकता का समावेश किया जाता है। छायावादी कवियों ने इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है—निराला, पन्त और प्रसाद को अपवाद माना जा सकता है। 'कामायनी' में कवि ने मुहावरों की प्रचुर योजना की है। गहरी नींव डालना, व्योम चूमना, साँस उखड़ना, रंग बदलना, दाँव हारना, कान खोलकर सुनना, तिल का ताड़ बनाना, लहू का घूँट

पीना, रात काटना आदि अनेक मुहावरों का प्रयोग करके काव्य-चमत्कार की सिद्धि और प्रभाव की वृद्धि की गई है।

७ 'कामायनी' की भाषा-समृद्धि और शब्द लालित्य :

कवि का शब्द-ज्ञान जितना ही व्यापक होगा, वह उसी अनुपात में भावों की सहज और बोधगम्य प्रस्तुति कर सकेगा। 'कामायनी' में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बहुल प्रयोग हुआ है। इनके तद्भव रूपों तथा विदेशी भाषाओं के कतिपय प्रचलित शब्दों की स्वीकृति भी उसमें देखी जा सकती है। स्वाभाविकता, माधुर्य एवं प्रवाह की रक्षा के लिए स्थानीय शब्द, अनुकरणमूलक शब्द, वर्ण-परिवर्तन आदि की प्रवृत्ति भी उसमें व्याप्त रही है। इस सम्पूर्ण शब्द-वैविध्य को पृथक्-पृथक् रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(अ) तत्सम शब्द—समीर, चरण, विकल, अखिल, जलद, प्रज्ञा, आवर्तन, अरुणाभ, आराध्य आदि।

(आ) तद्भव शब्द—निबल (निर्बल), नाच (नृत्य), सपना (स्वप्न), रात (रात्रि), राज (राज्य) आदि।

(इ) देशज शब्द—पेंगो, ठिठोली, मचल आदि।

(ई) विदेशी शब्द—अगला का 'मसरूफ' तथा अरबी-फारसी के तीर, दाग, गुलाबी, परदा, शोर, चमक, घायल आदि।

(उ) स्थानीय शब्द—गैल, मुलक्याती, भिटका, लुटरी आदि।

(ऊ) अनुकरण-मूलक शब्द—रिमझिम, झिलमिल, थर-थर, भरमाया, सन-सन आदि।

(ए) पुनरुक्त शब्द—दूर-दूर, दिन-दिन, बहते-बहते, राशि-राशि, नस-नस, पास-पास, पद्म-पद्म, लोक-लोक आदि।

(ऐ) शब्द-लालित्य—सयुत (संयुक्त), मरोर (मरोड़), विरल (विरल), प्रतारित (प्रताड़ित), परदेसी (परदेशी) आदि।

(ओ) शब्द-मोह—मधुर, मधु, महा, नव तथा चिर शब्दों का विशेषरूपेण बहुत प्रयोग किया गया है।

उपसंहार

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्रसादजी की भाषा पर्याप्त सशक्त तथा समृद्ध थी। भाषा-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए उन्होंने विभिन्न उपकरणों का माध्यम लेकर अपनी कला-कुशलता का परिचय दिया है। बोलचाल की लोक-सामान्य

भूमि से कुछ दूर होने के कारण प्रसादजी की भाषा पर प्राय. क्लिष्टता का दोषारोपण किया जाता है। किन्तु, ऐसा कहना उचित नहीं है। रस-वर्द्धन के लिए लाक्षणिक उक्तियों के समावेश को अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता। वैसे भी, यद्यपि प्रसादजी के समक्ष शुद्ध साहित्यिक भाषा का आदर्श रहा है, तथापि 'कामायनी' की भाषा कृत्रिम नहीं है। उसमें भावों के अनुकूल भाषा-परिवर्तन का ध्यान रखा गया है। मुहावरों की समुचित योजना तथा तद्भव और स्थानीय शब्दों के प्रयोग द्वारा भी उसमें सरलता और स्पष्टता का समावेश किया गया है। वस्तुत. भाषा की प्राजलता, लाक्षणिक प्रयोगों की प्रबल सार्थकता, अभिव्यक्ति की उदात्तता, भाषा की भावानुकूलता आदि विशेषताएँ कवि की शैली के महान् गुण हैं। इन्हें देखते हुए हमें यह मानना पड़ेगा कि कामायनीकार ने खड़ीबोली को संस्कृत का सौष्ठव और गाम्भीर्य प्रदान किया है।

६

शैलीगत विशेषताएँ

(१) प्रसंगगर्भत्व

भाषा को सप्रभाव और महिमा-मण्डित बनाने के लिए समर्थ कवि प्राय प्रसंगगर्भत्व का आश्रय लेते हैं। अभिव्यंजना की इस प्रणाली के अन्तर्गत कवि भावों के स्पष्टीकरण के लिए साहित्य-क्षेत्र में विशेषत प्रसिद्ध विषयों को साधन रूप में ग्रहण करता है। जो कवि साहित्य और शास्त्र का जितना अधिक ज्ञाता होता है, उसके काव्य में प्राय उतने ही अधिक प्रसंग-गर्भित स्थलों की योजना मिलती है। साहित्यिक और दार्शनिक ग्रन्थों के अच्छे ज्ञाता होने के कारण प्रसादजी ने भी इस कौशल का पर्याप्त प्रयोग किया है। 'कामायनी' में से कुछ उदाहरण देखिए—

(अ) "आज अमरता का जीवित हूँ,
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह्, सर्ग के प्रथम अंक का
अधम पात्रमय-सा विष्कम्भ।"[1]

(आ) "सुना यह मनु ने मधु गुंजार
मधुकरी का-सा जब सानन्द
किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कविता का ज्यों सुन्दर छन्द।"[2]

इन उदाहरणों में अन्यान्य प्रकरणों का समावेश करके प्रसंगगर्भत्व का सम्पादन हुआ है। साहित्य और शास्त्र के सम्यक् ज्ञान के अभाव में प्रसंगगर्भित स्थल

१. कामायनी, चिन्ता, पृष्ठ १८/२
२. कामायनी, श्रद्धा, पृष्ठ ४५/२

प्रमाता को सहसा स्पष्ट नहीं हो पाते। अतः इन स्थलों पर कुछ क्लिष्टता का आरोप अवश्य किया जा सकता है, किन्तु फिर भी सहृदयों को इनके स्पष्टीकरण में रस मिलने के कारण और प्रतिपाद्य विषय में प्रभाव-वृद्धि होने से काव्य में प्रसंगगर्भित स्थलों की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती।—और इस दृष्टि से 'कामायनी' की भाषा समृद्ध है। उसमें पर्याप्त प्रसंगगर्भित स्थल उपलब्ध हैं।

(२) दार्शनिक शब्दावली

'कामायनी' में मानव-मन में उठने वाले विभिन्न भावों के क्रमिक विकास के साथ-साथ प्रसादजी ने शैव-दर्शन की अभिव्यक्ति की है। अतः उसमें शैव-दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली का उन्मुक्त प्रयोग हुआ है। किसी-किसी पद में तो एक से अधिक पारिभाषिक शब्द आ जाने के कारण सामान्य पाठक के लिए अस्पष्टता बनी रह जाती है। यथा—

"समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखंड घना था।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों का अर्थ जानने के लिए प्रमाता को पहले 'समरस', 'जड', 'चेतन', 'साकार', चेतनता', 'आनन्द' तथा 'अखड' जैसे पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान होना आवश्यक है। इसी प्रकार श्रद्धा की निम्नलिखित उक्तियों में रेखांकित शब्दों की पारिभाषिकता के कारण अर्थ-प्रतीति में दुर्बोधता आ गई है—

(अ) "कर रही लीलामय आनन्द,
महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
इसी में सब होते अनुरक्त।
काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग,
इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल,
बनाते हो असफल भवधाम।"[2]

---

१. कामायनी, आनन्द, पृष्ठ २६४/५
२. कामायनी, श्रद्धा, पृष्ठ ५३/१-२

(आ) "विषमता की पीड़ा से व्यस्त,
हो रहा स्पंदित विश्व महान,
यही दुख सुख विकास का सत्य,
यही भूमा का मधुमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान,
व्यथा से नीली लहरों बीच,
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।"[1]

वस्तुतः दार्शनिकता को प्रसादजी के गम्भीर व्यक्तित्व का सहज अनुभूत मानना चाहिए। 'कामायनी' के अतिरिक्त उनकी 'आँसू' आदि काव्य-कृतियों तथा 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' आदि नाटकों में भी स्थल-स्थल पर दार्शनिक शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होने से 'कामायनी' की भाषा में क्लिष्टता आ गई है, किन्तु आलोच्य कवि को इसके लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उसका प्रतिपाद्य ही ऐसा था जिसमें इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इतना होते पर भी उन्होंने कल्पना और माधुर्य गुण का विशेष सचार करके दार्शनिक शुष्कता को कम करने का प्रयास किया है। इसी कारण "इनके काव्य में दार्शनिकता अनुभूत होने पर भी उसमें नीरसता नहीं, शुष्कता नहीं, रुचि भंजना नहीं क्योंकि वह भावुकता से सनी हुई है।"[2]

(२) पुनरुक्त शब्द

भाषा को प्रभावशाली तथा भाव को सप्राण बनाने के लिए किसी-किसी शब्द को दो अथवा तीन बार प्रयुक्त कर दिया जाता है। इस प्रकार की शब्द-योजना को पुनरुक्त शब्द कहते हैं। पुनरुक्त शब्दों के दो भेद किये जा सकते हैं—(अ) पूर्ण पुनरुक्त, (आ) अपूर्ण पुनरुक्त। जब किसी शब्द का एक-साथ लगातार दो अथवा तीन बार प्रयोग होता है तब उन सबको पूर्ण पुनरुक्त शब्द कहते हैं।[3] इस प्रवृत्ति को कथन की निश्चयात्मकता तथा भाषा के प्रवाह के लिए ग्रहण किया जाता है। 'कामायनी' में पूर्ण पुनरुक्त शब्दों की राशि-राशि योजना हुई है। कण-कण, दूर-दूर, दिन-दिन, बहते-बहते, राशि-राशि, ज्यों-ज्यों, नस-नस, तारे-तारे,

१ कामायनी, श्रद्धा, पृष्ठ ५४, १-२
२ साहित्य के पृष्ठ (प्रो॰ गजानन शर्मा), पृष्ठ ४५
३. देखिए 'हिन्दी व्याकरण' (कामताप्रसाद गुरु), पृष्ठ ४१३

धीरे-धीरे, क्षण-क्षण, धीमे-धीमे आदि शब्द[1] प्रमाणस्वरूप उद्धृत किये जा सकते हैं। इसके विपरीत जब किसी शब्द के साथ कोई समानुप्रास सार्थक वा निरर्थक शब्द आता है तब वे दोनों शब्द अपूर्ण पुनरुक्त कहलाते हैं।[2] अर्थात् अपूर्ण पुनरुक्त शब्दों में किसी शब्द की आवृत्ति उसके मूल रूप में नहीं की जाती वरन् दूसरी बार प्रयुक्त होने वाला शब्द सादृश्य में उससे मिलता-जुलता होता है। ये अतिरिक्त शब्द अधिकांशतः निरर्थक होते हुए भी शब्द-विशेष के साथ जुड़ कर भाषा को सरल, प्रवाह-पूर्ण और स्वाभाविक बनाने में असन्दिग्ध महत्त्व रखते हैं। साहित्यिक स्तर की सरक्षा में अनेक कवि इस प्रकार के सामान्य शब्दों को ग्रहण न करके अपनी भाषा को अस्वाभाविक और अतिसस्कृतमयी बना देते हैं। प्रसादजी की यह विशेषता रही है कि उन्होंने अपनी भाषा को साहित्यिक स्तर पर नियोजित करते हुए भी हरी-भरी, झूम-झूम, भोली-भाली, छुई-मुई, आस-पास, नोंक-झोंक, चहल-पहल, छिन्न-भिन्न, टोक-टोंक आदि अपूर्ण पुनरुक्त शब्दों[3] का प्रयोग करके उसे गति प्रदान की है।

यदि 'कामायनी' के सम्पूर्ण कलेवर में केवल एक-दो पुनरुक्त शब्द ही मिल पाते तो हम उन्हें अनायास प्रयुक्त मान कर कवि को इसका विशेष गौरव नहीं दे सकते थे। किन्तु, इनकी योजना अनेक स्थलों पर होने के कारण यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि पुनरुक्त शब्दावली का प्रयोग करके अपनी भाषा को सहज स्वाभाविक बनाए रखने के प्रति प्रसादजी सदैव सजग रहे हैं।

(४) स्थानीय शब्द

साहित्यकार की निजी अभिव्यक्ति होने के कारण साहित्य में उसके व्यक्तित्व की छाप अनिवार्य है। इसी कारण कवि अथवा लेखक की भाषा में प्रान्त-विशेष में व्यवहृत शब्द स्वत. प्रयुक्त हो जाते हैं। काव्य की सफलता उसके साधारणीकृत होने में मानी गई है। अत. उसमें इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग तभी मान्य हो सकता है जब वे प्रमाता को सरलतापूर्वक अर्थ-प्रतीति करा सकें। काशी-वासी होने के कारण प्रसादजी ने 'कामायनी' में उस क्षेत्र के अनेक प्रान्तीय शब्दों तथा क्रियाओं का प्रयोग

---

१. देखिए, 'कामायनी', पृष्ठ क्रमशः—१६/२, ३०/३, ३३/२, ६४/४, ८६/४, ६१/३, १०१/२, १११/५, ११९८/६, १२३/४, १२५/३

२. देखिए, 'हिन्दी व्याकरण' (कामताप्रसाद गुरु), पृष्ठ ४१३

३. देखिए, 'कामायनी', पृष्ठ क्रमश.—५/२, १५/१, ४०/२, १११/२, १५८/२, १७१/२, १७७/१, १६८/४, २३५/१

किया है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित पंक्तियों के रेखांकित शब्द प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

(अ) "शरद इन्दिरा के मन्दिर की मानो कोई गैल रही"[1]

(आ) "घूँघट उठा देख मुसक्याती।"[2]

(इ) "एक छिटका सा लगा सहर्ष।"[3]

(ई) "टक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण।"[4]

(उ) "लटरी ऐसी अलक रज धूसर बाँहें आकर लिपट गईं।"[5]

(ऊ) "माँ! तू चल आई दूर इधर।
संध्या कब की चल गई उधर।"[6]

प्रान्तीय शब्दों के लिए यह आवश्यक है कि वे काव्य-भाषा में घुल-मिल जाएँ। इस दृष्टि से प्रसादजी के उपर्युक्त प्रयोग अत्यन्त सफल कहे जा सकते हैं। हाँ, 'चल आई' और 'चल गई' क्रियाओं का प्रयोग अवश्य खटकता है। फिर भी, समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि इनके कारण 'कामायनी' की अपेक्षाकृत संस्कृतमयी भाषा बोलचाल के कुछ निकट आ गई है। भाषा की व्यंजकता को बढ़ाने में ये शब्द सहायक ही रहे हैं।

(५) शब्द-लालित्य अथवा कांतिगुण

भाषा को मसृण और सचिक्कण बनाने के लिए कुशल कवि उसमें माधुर्य का समावेश करते हैं। दीर्घाकार मात्राओं के स्थान पर ह्रस्व मात्राओं के प्रयोग तथा 'श' की अपेक्षा 'स' आदि वर्ण-परिवर्तन के मूल में शब्द-लालित्य की यही भावना कार्य करती है। वर्ण-संगीत के लिए संयुक्त वर्णों तथा रेफ की अधिकता से बचने का प्रयास भी किया जाता है। हिन्दी साहित्य में ब्रजभाषा-काव्य सर्वाधिक ललित है। इसे मसृणता प्रदान करने वाले शब्द-शिल्पियों में घनानन्द, पद्माकर और बिहारी का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। छायावादी कवियों ने भी खड़ीबोली को मधुर और ललित बनाने का सफल प्रयास किया था। इस सम्बन्ध में डॉ० नामवरसिंह की

---

१. कामायनी, आशा, पृष्ठ २८/४
२. कामायनी, आशा, पृष्ठ ३६/४
३. कामायनी, श्रद्धा, पृष्ठ ४५/४
४. कामायनी, वासना, पृष्ठ ८६/३
५. कामायनी, स्वप्न, पृष्ठ १७६/३
६. कामायनी, दर्शन, पृष्ठ २३३/२

यह उक्ति द्रष्टव्य है—"भाषा की कोमलता छायावाद का पहला वादा था और कहना न होगा कि उसने इसे पूरा कर दिखाया—यहाँ तक कि छायावाद की खड़ीबोली की कविता के सामने ब्रजभाषा खुरदरी मालूम होने लगी।"[1] 'कामायनी' में भी प्रायः सर्वत्र ललित शब्दों का चयन किया गया है। अनुस्वारमयी पदावली तो न्यूनाधिक रूप में इसके लगभग प्रत्येक छन्द में देखी जा सकती है। मात्राओं तथा वर्णों के परिवर्तन और रेफ के बहिष्कार द्वारा भी लालित्य का समावेश किया गया है। इस प्रकार के कुछ शब्द देखिए—

संयुत (संयुक्त)[2], ज्योतिमयी (ज्योतिर्मयी)[3], प्रान (प्राण)[4] मरोर (मरोड़)[5], अलस प्राण (आलस्यपूर्ण प्राण)[6] कुहुकिनि (कुहुकिनी)[7], ज्योतिमान (ज्योतिर्मान)[8], किरन (किरण)[9], उडुगन (उडुगण)[10], परदेसी (परदेशी)[11], प्रतारित (प्रताड़ित)[12], कन (कण)[13], पांत (पंक्ति)[14] पतझर (पतझड़)[15]।

इन शब्दों से स्पष्ट है कि प्रसादजी भाषागत माधुर्य के लिए शाब्दिक विकृति को अनुचित नहीं समझते थे। यद्यपि साधारणतः उनका आग्रह संस्कृत शब्दावली की शुद्ध व्यवहृति की ओर रहा है, किन्तु जहाँ उन्हें भाषा-माधुर्य खंडित होता हुआ प्रतीत होता है वहाँ वे तत्सम शब्दों के तद्भव रूपों के प्रयोग में सकोच नहीं करते।

(६) शब्द-मोह

भावाभिव्यक्ति के लिए कवि को शब्द-चयन की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है।

---

१. छायावाद, पृष्ठ १०४
२. कामायनी, आशा, पृष्ठ २६/५
३. कामायनी, काम, पृष्ठ ७७/४
४. कामायनी, वासना, पृष्ठ ६४/४
५. कामायनी, लज्जा, पृष्ठ १०३/३
६. कामायनी, ईर्ष्या, पृष्ठ १४०/१
७. कामायनी, इडा, पृष्ठ १५६/२
८. कामायनी, इड़ा, पृष्ठ १६३/१
९. कामायनी, स्वप्न, पृष्ठ १७६/४
१०. कामायनी, स्वप्न, पृष्ठ १७८/१
११. कामायनी, स्वप्न, पृष्ठ १६८/४
१२. कामायनी, स्वप्न, पृष्ठ १८०/४
१३. कामायनी, निर्वेद, पृष्ठ २१७/२
१४. कामायनी, दर्शन, पृष्ठ २३३/१
१५. कामायनी, रहस्य, पृष्ठ २६५/२

किन्तु, कभी-कभी वह कुछ शब्दों के प्रति अत्यधिक आसक्त होकर आवश्यक-अनावश्यक सभी स्थलों पर उनका प्रयोग करने लगता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति को कवि का शब्द-मोह ही कहना चाहिए। छायावादी कवियों में यह शब्दासक्ति अपने चरम रूप में उपलब्ध होती है। इन शब्दमोही कवियों में 'प्रसाद' और 'पंत' का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने अपने प्रिय शब्दों का इतना अधिक प्रयोग किया कि उनका सौन्दर्य, चमत्कार एवं व्यंग्यार्थ नष्टप्राय हो गया।[१] इस सम्बन्ध में श्री शम्भूनाथ सिंह ने ठीक ही लिखा है कि छायावादी युग में यह "शब्द-मोह इतना बढ़ गया था कि छायावाद के बाद की कविता में प्रयत्नपूर्वक उन शब्दों का बहिष्कार किया गया ताकि छायावादी शैली से मुक्ति मिले।"[१] 'कामायनी' में भी प्रसादजी का कुछ शब्दों के प्रति प्रबल मोह है। उदाहरणस्वरूप मधुर, मधु, महा, चिर, नव आदि की गणना की जा सकती हैं। कुछ उदाहरण देखिए —

(अ) मधुर—मधुर स्नेह, मधुर वस्तु, मधुर बोल, मधुर नाद, मधुर मौन, मधुर विश्वास, मधुर मराली, मधुर स्पर्श, मधुर स्थिति, मधुर कांति, मधुर वचन, मधुर मिलन आदि[२]

(आ) मधु—मधु धारा, मधु जीवन, मधु बूँदें, मधु अभिलाषाएँ, मधु रजनी, मधु मयन, मधु अधरों आदि[३]

(इ) महा—महा शक्तिशाली, महा पर्व, महा दुःख, महा ओघ, महा नाश, महा विपद, महा शून्य, महाह्रद आदि[४]

(ई) चिर—चिर प्रभात, चिर सुन्दरता, चिर प्रवास, चिर मंगल, चिर आत्मर्पण, चिर अतृप्ति, चिर विस्मृति, चिर मुक्त, चिर सुन्दर आदि[५]

---

१. छायावाद-युग, पृष्ठ १४५-१४६

२. देखिए, कामायनी, पृष्ठ क्रमश: १४४/१, १४५/१, १५२/२, १६७/२, १६६/१, १७७/५, १८४/२, २१५/१, २२१/४, २३६/१, २४४/२, २८६/४

३. देखिए, कामायनी, पृष्ठ क्रमश: १४८/५, १५१/२, १६६/१, १७७/४, २२६/२, २४८/१, २६०/१

४. देखिए, कामायनी, पृष्ठ क्रमश: १२४/१, १४३/२, १५४/२, १७०/२, १६१/४, २५१/१, २७३/२, २६०/२

५. देखिए, कामायनी, पृष्ठ क्रमश: १६६/२, १७७/३, १७८/२, २३६/१, २३७/१, २३७/२, २८३/२, २८८/४

(उ) नव—नव इन्द्र, नव निधि, नव माला, नव सुधार, नव मंडप, नव विधान, नव कोमल, नव प्रतिमा, नव प्रभात, नव कुंज आदि[1]

(७) भाषा-समृद्धि अथवा शब्द-संग्रह

भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का माध्यम सबसे अधिक सशक्त तथा निर्भ्रांत है। भाषा का निर्माण विविध शब्दों के एकत्रण से होता है। अत: कवि का शब्द-ज्ञान जितना ही व्यापक होगा वह उसी अनुपात में भावों की सहज और बोधगम्य प्रस्तुति कर सकेगा। सुविधा और व्यवस्था के लिए साहित्यकार सामान्यत: एक ही भाषा का प्रयोग करता है, किन्तु कहीं-कहीं भाव-विशेष के स्पष्टीकरण के लिए वह अन्य भाषाओं के शब्द-समूह से भी सहायता लेता है।

'कामायनी' में संस्कृत-शब्दों के तत्सम रूपों का बहुल प्रयोग हुआ है। वैसे भी, प्रसादजी भाषा को साहित्यिक स्तर पर नियोजित करने के पक्ष में थे। तत्सम शब्दों के अतिरिक्त उनके तद्भव रूपों तथा विदेशी भाषाओं के कतिपय प्रचलित शब्दों की स्वीकृति भी उसमें देखी जा सकती है। स्वाभाविकता की रक्षा के लिए अनुकरणमूलक शब्द भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं। इस सम्पूर्ण शब्द-वैविध्य को पृथक्-पृथक् रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

(अ) तत्सम शब्द :

हम कह चुके हैं कि भाषा के साहित्यिक स्तर के संरक्षक होने के कारण भाषा-सस्कार के उद्देश्य से प्रसादजी के काव्य में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। 'कामायनी' भी इसका अपवाद नहीं है। इसमें प्रयुक्त तत्सम शब्द दो प्रकार के हैं—(अ) दार्शनिक, (आ) सामान्य साहित्यिक। दार्शनिक शब्दावली के विषय में पहले ही विचार किया जा चुका है, अत: उसका पुन: उल्लेख अनावश्यक होगा। दार्शनिक शब्दों के अतिरिक्त 'कामायनी' में प्रयुक्त अन्य तत्सम शब्द भी दो प्रकार के हैं—कुछ तो हिन्दी में पहले से प्रचलित हैं और उसी में घुल-मिल गए हैं, किन्तु कुछ अपेक्षाकृत दुरूह हैं। उदाहरणस्वरूप समीर, चरण, विकल, भ्रांति, जलद, पीयूष, ग्रंथि आदि तत्सम शब्द[2] अपेक्षाकृत सरल हैं, किन्तु तिमिंगलों, ज्योतिरिंगणों, प्रज्या, मावर्जना, प्रवाल, जव, नाराच, अलम्बुषा, ममार्खियों जैसे

१. देखिए, कामायनी, पृष्ठ क्रमश: ४७/१; १६६/१, १६८/१, १७६/१, १८३/१, २०६/२, २१३/१, २२२/२, २३०/३, २८४/१

२. देखिए, कामायनी, पृष्ठ क्रमश: १२/३, २७/३, ३६/३, ५८/३, ८७/३, १०६/२, १४५/३

शब्दों' को दुष्पाच्य ही कहा जाएगा। काव्य की क्लिष्टता के लिए ये निश्चय ही उत्तरदायी रहे हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 'कामायनी' के अधिकांश तत्सम शब्द सुपाच्य हैं। कवि की दृष्टि सरल शब्दों के प्रयोग की ओर ही रही है।

प्रस्तुत प्रसंग में इस प्रश्न पर विचार कर लेना भी अप्रासंगिक न होगा कि क्या संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भाषा की सरलता में बाधक होता है? स्पष्ट है कि इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। हाँ, हमें संस्कृत के उन क्लिष्ट शब्दों से अवश्य बचना चाहिए जिनका अर्थ समझने के लिए शब्द-कोष की सहायता लेनी पड़े। वस्तुतः डॉ० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "हमें संस्कृत से दूर न होना चाहिए 'संस्कृतता' से दूर होना चाहिए।"[1] इस दृष्टि से विचार करने पर 'कामायनी' में प्रयुक्त संस्कृत की तत्सम शब्दावली पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं किया जा सकता। वह 'संस्कृतता' से बहुत दूर रही है। कुछ विद्वानों ने इसकी भाषा को क्लिष्ट बताया है, किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है। "संस्कृत के बड़े-बड़े तथा क्लिष्ट अर्थ वाले शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से 'साकेत' 'कामायनी' से कहीं अधिक समृद्ध है। कामायनी पढ़ते समय दो तीन बार से अधिक शायद ही शब्द-कोष उठाना पड़े।"[3]

(आ) तद्भव शब्द .

हिन्दी का निर्माण मुख्यतः दो प्रकार के शब्दों से हुआ है—(अ) संस्कृत के तत्सम शब्द, (आ) उनके तद्भव रूप। अतः हिन्दी का कोई भी कवि या लेखक न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों का एकान्त बहिष्कार कर सकता है, और न तद्भव शब्दों का। तद्भव शब्द तत्सम शब्दों के ही विकृत रूप हैं। प्रयत्न-लाघव अथवा मुख-सुख (उच्चारण-सुकरता) के कारण जन-साधारण में इनका प्रचलन हो जाता है। कामायनीकार ने भी अतिसंस्कृतता और अस्वाभाविकता से बचने के लिए इनका पर्याप्त प्रयोग किया है। निबल (निर्बल), नाच (नृत्य), सपना (स्वप्न), सुहाग (सौभाग्य), नयन (नयन), रात (रात्रि), भूख (बुभुक्षा), तीखा (तीक्ष्ण), राज (राज्य) आदि इसी प्रकार के शब्द हैं।[4] इनकी प्रयुक्ति के कारण 'कामायनी' की

१ कामायनी, पृष्ठ क्रमश १२/३, १७/२, ६३/३, १०७/४, १४७/२ १८६/४, २००/४, २६३/२, २७१/२

२ विचार-दर्शन, पृष्ठ १४७

३ छायावाद (डॉ० नामवर सिंह), पृष्ठ १०१

४. देखिए, कामायनी पृष्ठ क्रमश २५/२, ६६/३, ८८/४, १००/४, १७०/१, २३३-१, १५०/१, २५०/१, २६७/३

भाषा व्यावहारिक भाषा से अधिक दूर नहीं जा सकी है—और इस प्रकार वह कृत्रिम भी नहीं बन पाई है। यह सत्य है कि प्रसादजी की प्रवृत्ति संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करने की ओर अधिक है, किन्तु उनके काव्य में स्थान-स्थान पर तद्भव रूपों की स्वीकृति के कारण यह भी स्पष्ट है कि वे भाषा की सहजता, स्वाभाविकता और सरल विभूति की ओर भी सजग रहे हैं।

(इ) देशज शब्द :

प्रसादजी की भाषा का संयोजन एक विशेष स्तर पर हुआ है। उसकी मूल प्रवृत्ति संस्कृत के तत्सम शब्दों की ओर उन्मुख होकर पठित समाज तक सीमित रहने की है। इसी कारण 'कामायनी' में देशज शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। अनुकरणमूलक शब्दों को छोड़ कर उसमें पेंगो, ठिठोली अथवा मचल जैसे गिने-चुने देशज शब्द ही मिलते हैं।[१] 'प्रसाद' के साथ-साथ अन्य छायावादी कवियों की भी यही दशा है। इस सम्बन्ध में श्री पूर्णसिंह ने अपने 'देशज शब्द और हिन्दी' शीर्षक लेख में जो मत व्यक्त किया है वह ठीक ही है—"प्रसाद, पन्त, निराला तथा महादेवी की रचनाएँ बहुत संस्कृतनिष्ठ हैं और सिवाय कुछ अनुकरणात्मक शब्दों के अन्य बहुत ही कम देशज शब्द इनमें आ पाए हैं।"[२]

(ई) विदेशी शब्द :

देशज शब्दों की भाँति 'कामायनी' में विदेशी शब्दों का प्रयोग भी बहुत कम हुआ है। विदेशी शब्दों को ग्रहण करने वाले छायावादी कवियों में 'निराला' सम्भवतः सबसे अधिक सम्पन्न प्रयोक्ता हैं। उन्होंने उर्दू काव्य-शैली पर आधारित अपनी हिन्दी गजलों तथा व्यंग्यात्मक कविताओं में अरबी-फारसी और अंगरेजी के अनेक शब्दों को उन्मुक्त अन्तस् से स्वीकार किया है। पंत ने भी अंगरेजी के अनेक शब्दों का चयन किया है, किन्तु प्रसाद-काव्य में विदेशी शब्दों का प्रायः अभाव रहा है। वस्तुतः उनकी मूल प्रवृत्ति संस्कृत के शब्द-भण्डार से हिन्दी को समृद्ध करने की ओर रही है। इसी कारण उनके प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ 'कामायनी' में भी विदेशी शब्दों का अधिक प्रयोग नहीं हुआ। अपवादस्वरूप बंगला का 'अपरूप' और अरबी-फारसी के तीर, दाग, गुलाबी, परदा, नोक, चमक तथा घायल शब्द उसमें अवश्य प्रयुक्त हो गए हैं।[३]

---

१ देखिए, 'कामायनी', पृष्ठ क्रमशः १६५/१, २६०/१, २७६/३

२. राजर्षि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ५४०

३. देखिए 'कामायनी', पृष्ठ क्रमशः ९१/३, २३/१, ४०/३, ४६/४, ५३/३ १७१/२, १७५/५, २०७/१

(उ) अनुकरणमूलक शब्द :

भाषा को प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए प्रसादजी ने अनुकरणमूलक शब्दों का प्रयोग भी किया है। इनसे एक ओर तो नाद-सौन्दर्य में वृद्धि हुई है और दूसरी ओर सजीव चित्रांकन में सफलता मिली है। यहाँ यह उल्लेख्य है कि अनुकरणात्मक शब्द प्रायः 'कामायनी' के उत्तरार्द्ध में ही आए हैं। मरराया, रिमझिम, झिलमिल, छपछप, थरथर, सनसन आदि शब्द उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं।[1]

१. देखिए, कामायनी, पृष्ठ क्रमश: १६८/७, २२५/४, २२६/४, २४५/२, २४६/२, २४७/१

१०

काव्य-दोष

रस के अपकर्षण द्वारा काव्य का अपकार करने वाले विघातक तत्वों को काव्य-शास्त्र में दोष की संज्ञा दी गई है। संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने कवि-कृति मे इनके परिहार पर विशेष बल दिया है—भामह[1], दण्डी[2], रुद्रट[3], और मम्मट[4], ने तो दोषों के एकान्त अभाव की आवश्यकता बतलाई है, किन्तु भरत[5] और विश्वनाथ[6] इस सम्बन्ध में कुछ उदार रहे हैं। केशव मिश्र ने निर्दोषता को काव्य का विशिष्ट गुण माना है, भले ही उसमें काव्यशास्त्रियों को मान्य काव्य-गुण न हों। अतः यह स्पष्ट है कि काव्य में दोषों का तिरस्कार किया जाना चाहिए।

दोषो के स्वरूप के विषय मे आचार्यों के दो मत हैं—ध्वनि-सम्प्रदाय से पूर्व-कालीन आचार्यों ने इनका सम्बन्ध गुण से मान कर इन्हे गुणों का अभाव-रूप कहा है, जबकि ध्वनिकार एवं उनके अनुवर्तियों ने दोषों का रस की पृष्ठभूमि मे अध्ययन करते

---

१ देखिए, 'काव्यालंकार' पृष्ठ, १/११-१२

२. देखिए, 'काव्यादर्श', पृष्ठ १/६-७

३. देखिए, 'काव्यालकार' (रुद्रटकृत), पृष्ठ ६/४०

४. देखिए, 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।'

हिन्दी काव्यप्रकाश, पृष्ठ १/४

५. देखिए, 'नाट्यशास्त्र', पृष्ठ १७/४७

६. देखिए, 'हिन्दी साहित्यदर्पण', पृष्ठ १/२ की वृत्ति

७. देखिए, "दोषः सर्वात्मना त्याज्यो रसहानिकरो हि सः।
अन्योगुणोऽस्तु मा वास्तु महन्निर्दोषता गुणः॥"
-अलंकारशेखर, पृष्ठ ४/१

हुए रस के अपकर्षक तत्त्वों को दोष माना है।[१] यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गुणों के अभाव-मात्र को दोष नहीं कहा जा सकता, दोष स्वयं भाव-रूप हैं। अतएव इस सम्बन्ध में उत्तरवर्ती आचार्यों का मत ही अधिक तर्क-संगत है।

दोषों की संख्या निश्चित करने में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। भरत ने दस[२], भामह ने पच्चीस[३], दण्डी ने दस[४], वामन ने बीस[५], रुद्रट ने छब्बीस[६] तथा मम्मट ने बहत्तर[७] दोष मान कर इनका भेद-विस्तार किया है। इनमें से समन्वयवादी आचार्य मम्मट के दोष-निरूपण को सर्वमान्यता प्राप्त हुई। उन्होंने काव्य-दोषों को पदगत, वाक्यगत, अर्थगत तथा रसगत दोषों के रूप में विभाजित किया है। इनमें से पदगत और वाक्यगत दोषों का सम्बन्ध भाषा से प्रत्यक्षतः है। हम सभी दोषों के विस्तार में न जाकर केवल पदगत और वाक्यगत दोषों के आधार पर 'कामायनी' में आये हुए दोषों की समीक्षा करेंगे—अर्थगत तथा रसगत दोषों की नहीं। मम्मट ने कवि की असावधानी के फलस्वरूप काव्य में सोलह पद-दोषों एवं बीस वाक्य-दोषों की सम्भावना मानी है। श्रुतिकटु, च्युतसंस्कृति, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, सन्दिग्ध, अप्रतीतत्व, ग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश तथा विरुद्धमतिकृत नामक सोलह दोष पदगत हैं।[८] प्रतिकूल वर्ण, उपहत एवं लुप्त विसर्ग, विसन्धि, हतवृत्त, न्यूनपदत्व, अधिकपदत्व, कथितपदत्व, पतत्प्रकर्ष, समाप्तपुनरात्त, अर्द्धान्तरैकवाचक, अभवन्मत, अनभिहितवाच्य, अस्थानस्थ पद, अपदस्थ समास, संकीर्ण, गर्भित, प्रसिद्धिहत, भग्नप्रक्रम, अक्रम तथा अमतपरार्थ नामक बीस दोष वाक्यगत हैं।[९]

इस प्रसंग में यह उल्लेख्य है कि काव्य में उन्हीं दोषों की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए जिनकी प्रतीति पाठक को अनायास ही हो जाए—केवल दोष-दर्शन के

---

१. देखिए 'हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य' (डॉ० सत्यदेव चौधरी), पृष्ठ ४७५-४७६
२. देखिए 'नाट्यशास्त्र', पृष्ठ
३. देखिए 'काव्यालंकार', पृष्ठ १/३७, १/४७, ४/१, ५/६७
४. देखिए 'काव्यादर्श', पृष्ठ ३/१२६
५. देखिए 'हिन्दी काव्यालंकारसूत्र', पृष्ठ २/१-२
६. देखिए रुद्रटकृत 'काव्यालंकार', पृष्ठ ६/२, ४०, ११/२, २/८
७. देखिए 'हिन्दी काव्यप्रकाश', पृष्ठ ७/५०-६५
८. देखिए 'हिन्दी काव्यप्रकाश', पृष्ठ ७/५०-५१
९. देखिए 'हिन्दी काव्यप्रकाश', पृष्ठ ७/५३-५४

लिए काव्य में दोष-सन्धान उचित नहीं। 'कामायनी' में वैसे तो इनमें से प्रायः प्रत्येक दोष का एकाध उदाहरण मिल जाता है, किन्तु हमने आलोच्य कृति में इन सभी का अनुसन्धान करना उचित नहीं समझा। वस्तुतः कवि में लेखक की अपेक्षा भावावेग का प्राबल्य रहता है। साथ ही, कवि को भाषा का स्वतन्त्र प्रयोग करने का इतना अधिकार नहीं होता जितना कि गद्यकार को। अतः उद्दाम भावनाओं को संतुलित भाषा में अभिव्यक्त करते समय उसके काव्य में अविमृष्टविधेयांश अथवा न्यूनपदत्व जैसे दोषों का आ जाना स्वाभाविक ही है। प्रसादजी भी इसके अपवाद कैसे हो सकते थे। अतः अन्य अनेक दोषों की न्यूनाधिक उपलब्धि होने पर भी हमने 'कामायनी' का दोष-विवेचन करते समय केवल श्रुतिकटु, निरर्थक, अश्लील, अप्रतीतत्व, ग्राम्य, अविमृष्टविधेयांश, हतवृत्त, न्यूनपदत्व, समाप्तपुनरात्त तथा अर्द्धान्तरैकवाचक नामक दोषों पर ही विचार किया है।

(१) श्रुतिकटुत्व—

सुखद शब्दावली का प्रयोग काव्य का भूषण है, अतः कानों को अप्रिय लगने वाले शब्दों से युक्त काव्य को श्रुतिकटु दोष से दूषित माना गया है। प्रमाता के हृदय को आकर्षित करने के लिए काव्य में कोमलकान्त प्रसन्न पदावली की योजना करनी चाहिए। अति-दीर्घ समासों अथवा कर्णकटु शब्दों से युक्त कविता के आस्वादन से रसग्राहक विक्षुब्ध हो उठेगा। वीर, रौद्र, वीभत्स आदि परुष रसों में इस प्रकार की पद-योजना दोष के अन्तर्गत नहीं आती किन्तु कोमल रसों में इनका एकान्त अभाव होना आवश्यक है। आचार्य शुक्ल के अनुसार काव्य में "श्रुति कटु मान कर कुछ वर्णों का त्याग वृत्तिविधान, लय, अन्त्यानुप्रास आदि नाद सौन्दर्य साधन के लिए ही है।"[1] प्रसादजी ने कोमल भावों की अभिव्यक्ति करते समय इस प्रकार के शब्दों से यथासम्भव बचने का प्रयास किया है। "कामायनी की भाषा की एक प्रमुख विशेषता है श्रुति सुखदाता और इसका कारण है—श्रुति कटु शब्दों का परित्याग, उग्र तथा कठोर भावों में भी कोमल वर्णों का प्रयोग।"[2] किन्तु, फिर भी 'कामायनी' में विश्वब्ध, वृत्रघ्नी, जनाकीर्ण, खुट्टी, धर्षिता जैसे कर्णकटु शब्दों का नितान्त अभाव नहीं है। देखिए—

(अ) आज तक घूम रहा विश्वब्ध"[3]
(आ) "वृत्रघ्नी का वह जनाकीर्ण उपकूल आज कितना सूना"[4]

---

१. चिन्तामणि, पहला भाग, पृष्ठ १७६
२. कामायनी-अनुशीलन (डॉ० रामलाल सिंह), पृष्ठ १०२
३. कामायनी, श्रद्धा, पृष्ठ ५२/१
४. कामायनी, इड़ा, पृष्ठ १६०/२

(इ) "लड़के जैसे खेलों में कर लेते खुट्टी।"[1]

(ई) "वहीं र्धापता खड़ी इडा सारस्वत रानी।"[2]

(२) च्युतसंस्कृति—

च्युतसंस्कृति वह दोष- विशेष है जिसमें व्याकरणिक नियमों की उपेक्षा की गई हो। प्रौढ़ साहित्यकारों के लिए भाषा के प्रयोग में इस प्रकार की असावधानता क्षम्य नहीं है। प्रसादजी की अन्य रचनाओं में व्याकरण के नियमों का अधिकांश रूप में निर्वाह हुआ है, किन्तु उनकी प्रौढ़तम कृति 'कामायनी' में उनकी उपेक्षा उनके कवि-प्रमाद की सूचक है। वस्तुतः समर्थ कवियों द्वारा इस प्रकार की त्रुटियाँ आवेश के क्षणों में अकस्मात् ही हो जाती हैं। इनके मूल में कवि की असमर्थता को स्वीकार करना उचित नहीं है। कालिदास की निरंकुशता इसका ज्वलन्त प्रमाण है।[3] कवि भावावेश के क्षणों में काव्य-रचना करता है, अतः उन सात्त्विक आह्लाद के समय उसकी स्वच्छन्द मनोवृत्ति को व्याकरणिक नियमों की परिसीमाओं में बन्दी नहीं किया जा सकता। कामायनीकार ने भी सम्भवतः भावावेश के समय में इस प्रकार की भूलें की होंगी। 'कामायनी' में अनेक प्रकार की व्याकरण-विषयक असावधानियाँ देखी जा सकती हैं, किन्तु वचन, लिंग एवं कारक सम्बन्धी दोषों पर हमारा ध्यान अनायास ही केन्द्रित हो जाता है।

(क) वचन दोष :

प्रसादजी ने अनेक बहुवचन संज्ञा-शब्दों की क्रियाओं या सर्वनामों का एकवचन में तथा एकवचन की संज्ञाओं की क्रियाओं आदि का बहुवचन में प्रयोग किया है। यथा—

(अ) "अरी आँधियो ! ओ बिजली की
दिवा रात्रि तेरा नर्तन।"[3]

(आ) "स्वर्णशालियों की कलमें थीं
दूर दूर तक फैल रही।"

---

१. कामायनी, संघर्ष, पृष्ठ १६९/१ २. वही, पृष्ठ १०१/१०

३. देखिए 'कालिदास की निरंकुशता' : लेखक—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

४. कामायनी, चिन्ता, पृष्ठ ७/२

५. कामायनी, आशा, पृष्ठ २०/४

(इ) "श्रद्धा का अवलम्ब मिला फिर,
कृतज्ञता से हृदय भरे।
मनु उठ बैठे गद्गद होकर,
बोले कुछ अनुराग भरे।"[१]

इन पंक्तियों में 'आँधियों' का सर्वनाम 'तेरा' तथा 'कलमें' की क्रिया 'फैल रही' को बहुवचनान्त होना चाहिए था।- 'हृदय' के लिए 'भरे' का प्रयोग भी अशुद्ध है। ये भूलें साधारण प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु इनसे भाव-ग्रहण में बाधा तो होती ही है।

(ख) लिंग-दोष

वचन सम्बन्धी असावधानियों की भाँति प्रसादजी कहीं-कहीं लिंग-निर्धारण में भी प्रमाद कर गये हैं। प्रसादजी ही क्या, प्रायः सभी कवियों ने इस प्रकार की उपेक्षा दिखाई है। छायावादी कवियों में तो लिंग-विषयक यह उदासीनता अपेक्षाकृत अधिक प्रबल रही है। अतः प्रसादजी भी इससे कैसे बचते! उदाहरणस्वरूप 'कामायनी' की निम्नस्थ पंक्तियों में 'तपस्या', 'देह' और 'आँख' शब्दों को स्त्रीलिंग-वाची होने पर भी पुल्लिंगवत् प्रयुक्त करके लिंग-विषयक अनौचित्य का परिचय दिया गया है—

(अ) 'एक सजीव तपस्या जैसे पतझड़ में कर वास रहा।'[२]
(आ) 'पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह-मात्र।'[३]
(इ) 'आँख बन्द कर लिया क्षोभ से।'[४]

इसी प्रकार 'कंपन' और 'लय' शब्दों को पुल्लिंग में व्यवहृत किया गया है जब कि हिन्दी में ये प्रायः स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होते हैं।[५] संस्कृत के कुछ पुल्लिंग शब्दों को भी 'कामायनी' में संस्कृत-व्याकरण के नियमानुसार ग्रहण किया गया है जबकि हिन्दी

---

१. कामायनी, निर्वेद, पृष्ठ २१८/२
२. कामायनी, आशा, पृष्ठ ३३/१
३. कामायनी, इड़ा, पृष्ठ १६३/१
४. कामायनी, निर्वेद, पृष्ठ २१८/४
५. (अ) 'या आदन मृदुतम कंपन, छायी संपूर्ण सृजन पर'
कामायनी, आनन्द, पृष्ठ २९३/१
(आ) 'यह नर्तन उन्मुक्त विश्व का स्पंदन द्रुततर;
गतिमय होता चला जा रहा अपने लय पर।'
कामायनी, संघर्ष, पृष्ठ १९१/१

में वे स्त्रीलिंग में प्रयुक्त किये जाते हैं। 'अग्नि' और 'परिधि' शब्द इसी प्रकार के हैं।[1] तुलनात्मक दृष्टि से यह अवेक्षणीय है कि प्रसादजी द्वारा शब्दों को पौरुष प्रदान करने की प्रवृत्ति के विपरीत छायावाद के एक अन्य प्रमुख कवि 'पंत' ने उन्हें स्त्रैणोन्मुख रखने का प्रयास किया है, जबकि महाप्राण 'निराला' उन्हें अधिकांशतः पौरुष से ही अभिमंडित करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि शब्दों में किया जाने वाला लिंग-विपर्यय कवि की व्यक्तिगत रुचि का द्योतक है। पंतजी ने 'मुझे अर्थ के अनुसार ही शब्दों को स्त्रीलिंग-पुल्लिंग बनाना उपयुक्त लगता है।'[2] कहकर इसी व्यक्तिगत रुचि का परिचय दिया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि कवि-स्वातन्त्र्य के आधार पर लिंग-विपर्यय का समर्थन किया जा सकता है, तथापि लोक-प्रचलित मान्यताओं का विरोध उचित प्रतीत नहीं होता। डॉ० नगेन्द्र ने 'लोक व्यवहार की सत्ता का उल्लंघन भी सरल नहीं है' कहकर इस प्रवृत्ति का अशतः समर्थन नहीं किया है।[3]

(ग) कारक लोप

कर्ता, क्रिया, कर्म आदि का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने के कारण कारकों का महत्त्व असंदिग्ध है। वाक्य में प्रयुक्त किसी भी शब्द को पढ़ने पर उससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य शब्द को जानने की आकांक्षा स्वाभाविक है। 'कारकों का सम्पूर्ण व्यापार इसी आकांक्षा की परिमिति के अन्तर्गत ही चलता है।'[4] अतः भाषा में कारकों की उपेक्षा नहीं की जा सकती, किन्तु प्रसादजी ने 'कामायनी' में कहीं-कहीं इनका सर्वथा बहिष्कार अथवा व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग किया है। कारक-विभक्तियों के पूर्ण लोप की दृष्टि से निम्नांकित पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

(अ) नील परिधान बीच सुकुमार
× × ×
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।[5]

---

१ (अ) 'पतला सचित अग्नि जल रहा
पास मलिन द्युति रवि कर से।'
कामायनी, आशा, पृष्ठ ३१/१

(आ) 'चेतना का परिधि बनता घूम चक्राकार'
कामायनी, वासना, पृष्ठ ८६/२

२. पल्लव, विज्ञापन, पृष्ठ 'ख'

३. विचार और विश्लेषण, पृष्ठ ९३

४. हिन्दी कारकों का विकास (शिवनाथ), पृष्ठ १३

५. कामायनी, श्रद्धा, पृष्ठ ४६/४

(आ) 'मनु ने कुछ कुछ मुसक्या कर
कैलास ओर दिखलाया।'[1]

यहाँ रेखांकित शब्दों के मध्य सम्बन्ध कारक का चिह्न होना चाहिए था। इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में 'छाह' तथा 'गोद' संज्ञाओं के अनतर अधिकरण कारक की 'में' विभक्ति की आकांक्षा बनी रहती है—

(अ) "हिम गिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छांह।"[2]

(आ) "मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद।"[3]

किन्तु यहाँ यह उल्लेख्य है कि गद्य की अपेक्षा कविता में कारकों का प्रतिबंध कम रहता है। लय की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उसमें गद्यात्मकता लाने वाले शब्दों का प्रयोग न किया जाए। इसी कारण कविगण कारकों का सर्वत्र प्रयोग नहीं करते। रीतिकालीन कवियों ने अधिकांश कारक-चिह्न छोड़ दिये हैं। 'कर्ता' के चिह्न 'ने' को उड़ा देना तो ब्रजभाषा का स्वभाव ही बन गया था।[4] वस्तुत यदि काव्य में कारक-विभक्ति का अभाव होने पर भी प्रमाता को अर्थ-प्रतीति में किसी प्रकार की असुविधा न हो तो वहाँ कारक-दोष नहीं मानना चाहिए। ऐसे स्थलों पर प्रमाता स्वयं कारक-विभक्ति का अनुमान कर लेता है। अग्निपुराणकार के अनुसार भी 'आक्षेप के बल से जहाँ कारक का अध्याहार हो वहाँ भ्रष्टकारकता दोष नहीं रहता।'[5] अत. प्रसादजी द्वारा लय के अबाध प्रसार के लिए कारकों की उपेक्षा को भी गम्भीर रूप में नहीं लेना चाहिए। हाँ, यह अवश्य है कि 'बहुत दिनों पर', 'पथ में' अथवा 'तट में' जैसी अशुद्ध विभक्तियों की अपेक्षा 'बहुत दिनों में', 'पथ पर' और 'तट पर' का प्रयोग होना चाहिए था।[6]

१. कामायनी, आनन्द, पृष्ठ २८७/३
२. कामायनी, चिंता, पृष्ठ ३/१
३. कामायनी, श्रद्धा, पृष्ठ ४७/५
४. देखिए 'देव और उनकी कविता' (डॉ० नगेन्द्र), पृष्ठ २२१
५. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग (अनुवादक—डॉ० रामलाल वर्मा), पृ० ६१
६. (अ) 'बहुत दिनों पर एक बार तो
सुख की बीन बजाऊँ।' कामायनी, कर्म, पृष्ठ ११२/१
(आ) 'धीरे धीरे जगत चल रहा
अपने उस ऋजु पथ में।' कामायनी, कर्म, पृष्ठ ११८/५
(इ) 'मैं इस निर्जन तट में अधीर,
सह भूख व्यथा तीखा समीर।' कामायनी, दर्शन, पृष्ठ २५०/१

व्याकरण विषयक उपर्युक्त असावधानियों के अतिरिक्त 'कामायनी' में शाब्दिक विकृति, विराम-चिह्नों का अशुद्ध प्रयोग तथा समासों का तिरस्कार भी किया गया है। अतः व्याकरण की दृष्टि से इसकी भाषा में व्यतिक्रम है, किन्तु रागात्मकता से समृद्ध होने के कारण इस व्यतिक्रम का शीघ्र बोध नहीं हो पाता। "उसमें व्याकरण की नियमबद्धता नहीं, पर कोमलता है, ध्वन्यात्मकता है और भावों का वह आरोह-अवरोह है जो एक साथ ही हृदय और मस्तिष्क दोनों पर गहरा प्रभाव डालता है।"[1] फिर भी, हम इतना अवश्य कहेंगे कि प्रसादजी को इस दिशा में अधिक जागरूक रहना चाहिए था। व्याकरण-विरुद्ध भाषा का प्रयोग श्रेयस्कर नहीं है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का भी यही मत है, "कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना न करनी चाहिए। शुद्ध भाषा का जितना मान होता है, अशुद्ध का उतना नहीं होता।"[2]

३ निरर्थकपदत्व :

काव्य में सार्थक शब्दों का प्रयोग उसका मूल गुण है, किन्तु जब कवि छन्दसिक आग्रह अथवा लय-निर्वाह के लिए अर्थहीन पदों की योजना करता है तब रचना में निरर्थकपदत्व दोष माना जाता है। प्रसादजी ने पादपूर्ति या मात्रापूर्ति के लिए प्राय 'कि' शब्द का प्रयोग किया है।[3] कुछ छन्दों में 'या' और 'कि' को एक ही स्थान पर प्रयुक्त कर दिया गया है, जबकि ये दोनों प्राय समानार्थी हैं। अतः इनमें से किसी एक को निरर्थक मानना पड़ेगा। निम्नोद्धृत पंक्तियों में 'या कि' का एक ही साथ प्रयोग हुआ है—

(अ) "या कि, नव इन्द्र नील लघु शृंग
फोड़ कर धधक रही हो कांत।"[4]

---

१ सुमित्रा—प्रसाद अंक, जुलाई १९५१ में श्री आनन्दनारायण शर्मा का 'कामायनी छायावाद का प्रकाश-स्तम्भ' शीर्षक लेख, पृष्ठ ९१

२ रसज्ञरंजन, पृष्ठ १८

३ देखिए (अ) 'हाँ, कि गर्व-रथ में तुरग सा
जितना जो चाहे जुत ले।' —कामायनी, आशा, पृष्ठ २५/४

(आ) 'उठती अन्तस्तल से सदैव, दुर्ललित लालसा जो कि कांत।'
—कामायनी, ईर्ष्या, पृष्ठ १३६/५

(इ) 'हाथ पकड़ ले चल सकता हूँ, हाँ कि यही अवलम्ब मिले,
वह तू कौन ? परे हट, श्रद्धे ! आ कि हृदय का कुसुम खिले।'
—कामायनी, निर्वेद, पृष्ठ २१९/१

४ कामायनी, श्रद्धा, पृष्ठ ४७/१

(आ) "जीवन में सुख अधिक या कि दुःख
मंदाकिनि कुछ बोलोगी ?
नभ में नखत अधिक, सागर में
या बुद-बुद हैं गिन दोगी ?"[1]

४. अश्लीलत्व :

लज्जा, घृणा अथवा अमंगल के भावों की अभिव्यंजना करने वाले शब्द अश्लीलत्व दोष से दूषित होते हैं। 'कामायनी' में चुम्बन, गर्भ, आलिंगन, अंक आदि शब्दों[2] के प्रयोग तथा संयोग शृंगार के वर्णन के कारण इस दोष का समावेश हो गया है। इसी प्रकार 'इंद्रिय'[3] और 'घटा'[4] शब्दों से पुरुष-चिह्न तथा 'भगनाश'[5] से 'भग' का नाश होने का अर्थ निकलने के कारण इन शब्दों का प्रयोग लज्जाजनक कहा जा सकता है। अतः कवि को इनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए था। वैसे सामान्यतः 'कामायनी' में अश्लीलता की व्यंजना प्रच्छन्न रूप में ही हुई है—

"और एक फिर व्याकुल चुम्बन
रक्त खौलता जिससे,
शीतल प्राण धधक उठता है,
तृषा तृप्ति के मिस से।
दो काठों की संधि बीच उस,
निभृत गुफा में अपने,
अग्नि-शिखा बुझ गई,
जागने पर जैसे सुख सपने।"[6]

प्रस्तुत पंक्तियों में मनु और श्रद्धा की रति-क्रीड़ा का वर्णन करते समय कवि ने स्पष्ट शब्दों का प्रयोग न कर अपने अभिप्राय को संकेत द्वारा प्रकट कर दिया है।

१. कामायनी, स्वप्न, पृष्ठ १७६/२
२. देखिए 'कामायनी' पृष्ठ क्रमशः १३६/४, १४३/१, १८५/१, २८६/४
३. कामायनी, कर्म, पृष्ठ १३०/३
४. कामायनी, आनन्द, पृष्ठ २८६/१
५. कामायनी, रहस्य, पृष्ठ २५६/१
६. कामायनी, कर्म, पृष्ठ १३६/४-५

वस्तुतः प्रसाद जी की भावुकता अश्लीलता की अस्पृश्य भूमि का स्पर्श करने से बचती रही है। सुसंस्कृत कवि होने के कारण उन्होंने निरन्तर मर्यादा का पालन किया है। श्रद्धा के शारीरिक सौन्दर्य को मांसल एवं सामान्य ऐन्द्रिय स्तर पर चित्रित न करके उसे उदात्त, परिष्कृत और शरीरोत्तर बनाने में उनकी स्वस्थ मनोवृत्ति देखी जा सकती है। इस सम्बन्ध में दिनकर का यह मन्तव्य उपयुक्त ही है कि 'कवि ने वासना-व्यंजक विशेषणों का सर्वथा त्याग करके केवल ऐसे-ऐसे विशेषण रखे हैं जिनसे, स्वच्छ, निष्कलुषता का वातावरण प्रस्तुत हो जाता है और इस वातावरण में श्रद्धा का जो रूप प्रकट होता है, वह, सचमुच ही स्पर्श से दूर और मन में अनिर्वचनीय स्फुरणा उत्पन्न करने वाला है।"[1] इसी कारण उनके काव्य में मतीय तथा अन्य प्रयोगवादी कवियों की भाँति "तेरी प्राण-पीठिका पर लिंग-सा खड़ा हुआ"[2] के समान नग्न अश्लीलता का प्रदर्शन नहीं हुआ है। श्रद्धा और मनु की मैथुनिक क्रीड़ा तथा इड़ा के साथ मनु के बलात्कार का वर्णन करते समय यह दोष आ सकता था, किन्तु वहाँ भी सांकेतिक अभिव्यक्ति द्वारा प्रसादजी इससे बच गए हैं। अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि यद्यपि एक-दो स्थलों पर 'कामायनी' में अश्लीलता का आभास होने लगता है, किन्तु समग्रतः उसमें इस दोष की व्याप्ति नहीं हुई है।

५ अप्रतीतत्व :

जब कवि रागात्मक विषयों के प्रतिपादन के लिए सहज मधुर शब्द-विन्यास के साथ-साथ गूढ़ शास्त्रीय शब्दावली के प्रति भी आग्रह रखता है तब रचना में अप्रतीतत्व दोष आ जाता है। ऐसी शब्दावली शास्त्र-विशेष के मर्मज्ञों के लिए तो सुकर रहती है, किन्तु सामान्य पाठक भाव-ग्रहण में कठिनाई का अनुभव करते हैं। काव्य-रचना का लक्ष्य 'बहुजन हिताय' है, अतः भाषा को कवि की व्यक्तिगत रुचि में ही आबद्ध नहीं किया जा सकता। लोक-व्यवहृत शब्दावली का आस्वादन प्रयोग ही कवि का अभीष्ट होना चाहिए।

'कामायनी' में शैव-दर्शन की अभिव्यक्ति के कारण शैवागम की पारिभाषिक शब्दावली का विविध प्रकरणों में समावेश हुआ है। फलतः उसमें अप्रतीतत्व दोष को अनेक स्थलों पर लक्षित किया जा सकता है। दार्शनिकता का आधिक्य होने से 'कामायनी' के विषय में यह कहा जा सकता है कि उसमें "अतिशय भावना

1. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृष्ठ ४८
2. तार सप्तक, पृष्ठ ७३

कल्पना और दार्शनिकता के कारण सहज अभिव्यक्तियों का अभाव होने से क्लिष्टता आ गई है।"[1] उदाहरणस्वरूप 'कामायनी' की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

"विषमता की पीड़ा से व्यस्त,
हो रहा स्पंदित विश्व महान्,
यही दुख-सुख विकास का सत्य,
यही भूमा का मधुमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान,
व्यथा से नीली लहरों बीच,
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।"[2]

इस उद्धरण में विषमता, व्यस्त, स्पंदित, भूमा, मधुमय दान, नित्य, समरसता, अधिकार तथा कारण-जलधि शब्द शैवागम के पारिभाषिक शब्द हैं, तथापि इस शब्दावली के लिए प्रसादजी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। उनका विषय ही ऐसा था जिसमें इन शब्दों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वैसे 'आँसू' (जिसमें कतिपय शास्त्रीय शब्द आ गए हैं) को छोड़कर 'झरना', 'महाराणा का महत्त्व', 'प्रेम-पथिक', 'लहर' आदि काव्य-ग्रन्थों में पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति नहीं रही है।

६. ग्राम्यत्व :

शिष्ट एवं सुसंस्कृत समाज में व्यवहृत होने वाली भाषा के स्थान पर अशिष्ट शब्दों का प्रयोग ग्राम्य-दोष के अन्तर्गत आता है। (स्थानीय शब्दावली अथवा प्रान्त-विशेष से सम्बद्ध शब्दों का प्रयोग इस दोष की सीमा में नहीं आता।) 'कामायनी' में खड़ीबोली के आदर्श रूप को ग्रहण किया गया है, किन्तु कतिपय शाब्दिक प्रयोग असंस्कृत होने के कारण ग्राम्यता के सूचक हैं। वैसे सामान्यतः प्रसादजी भाषा के साहित्यिक स्वरूप की संरक्षा में पर्याप्त सजग रहे हैं। उनकी भाव-व्यंजना शिष्ट और सात्त्विक है, परन्तु भावावेश में वे एकाध स्थलों पर साहित्यिक स्तर से कुछ नीचे भी उतर आए हैं। उदाहरण के लिए निम्नांकित पंक्तियों में प्यार करने के लिए 'प्यार धोना', सौरभयुक्त के लिए 'सौरभ से सना', शयन करने के लिए 'पड़ा होना' तथा साँस लेने के लिए 'साँस फेंकना' का

१. महाकवि प्रसाद (डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक), पृष्ठ १२८-१२६
२. कामायनी, श्रद्धा, पृष्ठ ५४/१-२

प्रयोग अथवा 'गंल', 'सुट्टी', और 'लड्ड' और 'खाई' सरीखे शब्दों का चयन साधु नहीं कहा जा सकता—

(अ) "राशि-राशि बिखर पड़ा है शान्त संचित प्यार
रख रहा है उसे ढो कर दीन विश्व उधार।"[1]

(आ) "कितने सौरभ से सना हुआ।"[2]

(इ) "कामायनी पड़ी थी अपना कोमल चर्म बिछा के।"[3]

(ई) "तब सरस्वती सा फेंक सांस, श्रद्धा ने देखा आस-पास।"[4]

(उ) "शरद इंदिरा के मंदिर की मानो कोई गैल रही।"[5]

(ऊ) "लड़के जैसे खेलों में कर लेते खुट्टी।"[6]

(ए) "विक्षत उसके अंग, प्रगट थे भीषण खड्ड भयकरी खाई।"[7]

ग्राम्यता की परिधि में गिने जाने वाले ये दोष साधारण होने पर भी असाधु तो कहे ही जाएँगे। यदि कवि की प्रवृत्ति जन-भाषा की ओर होती तो इन प्रयोगों की उपेक्षा की जा सकती थी, किन्तु कामायनीकार तो भाषा के प्रौढ़ रूप के समर्थक थे। अतः यदि वे इनसे बचने का प्रयास करते तो अधिक अच्छा होता।

७ अविमृष्टविधेयांश :

वाक्य में सामान्यतः दो अंश होते हैं—ज्ञात अंश और अज्ञात अंश। इनमें से ज्ञात अंश को उद्देश्य कहते हैं तथा अज्ञात अंश को विधेय। कवि को वाक्य-रचना इस प्रकार करनी चाहिए कि पाठक को विधेय की स्पष्ट प्रतीति हो जाए। यदि इसके प्रतिकूल वाक्य-रचना की जाती है तो अविमृष्टविधेयांश दोष आ जाता है। एक उदाहरण देखिए—

"घूंघट उठा देख मुसक्याती
किसे ठिठकती-सी आती,
विजन गगन में किसी भूल-सी
किस की स्मृति पथ में लाती।"[8]

---

१. कामायनी, वासना, पृष्ठ ८६/४
२. कामायनी, लज्जा, पृष्ठ ६८/२
३. कामायनी, कर्म, पृष्ठ ११८/४
४ कामायनी, दर्शन, पृष्ठ २४७/१
५. कामायनी, आशा, पृष्ठ २८/४
६ कामायनी, संघर्ष, पृष्ठ १६६/१
७ कामायनी, रहस्य, पृष्ठ २२७/४
८. कामायनी, आशा, पृष्ठ ३६/४

इस उदाहरण में विधेय अंश यह है कि वह कौन-सा अनिर्वचनीय तत्त्व है जिसे देखने के लिए रात्रि अपना घूंघट उठा देती है ? उस अनिर्वचनीय तत्त्व की ओर संकेत करना ही मनु का मुख्य विषय है। किन्तु, अनिर्वचनीयतत्त्ववाची 'किसे' शब्द को द्वितीय पंक्ति में रख कर गौण बना दिया गया है। अत यहाँ 'अविमृष्टविधेयांश' दोष है।

इसी प्रकार निम्नलिखित छन्द में भी यही दोष है—

"सुना यह मनु ने मधु-गुंजार
मधुकरी का-सा जब सानंद,
किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छंद,
एक झिटका-सा लगा सहर्ष
निरखने लगे लुटे-से, कौन—
गा रहा यह सुन्दर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन।"[1]

मनु के हृदय में एक झटका-सा उस समय लगता है जब उन्होंने मधु गुंजार सुना। अतः इस पद्य में कवि का मुख्य विधेय यही है कि वह उस अवसर का निर्देश कर रहा है जब मनु पर भावना का आघात हुआ था। अत. यहाँ विधेय 'जब' ही है—और उसी पर अधिक बल पड़ना चाहिए। किन्तु, वाक्य-रचना के द्वारा वह ऐसा गौण बना दिया गया है कि विधेय के रूप में उसकी प्रतीति ही नहीं हो पाती।

८. हतवृत्त :

छन्द-विधान करते समय यह आवश्यक है कि उसमें मात्रा, गति, यति, तुक आदि का पिंगल-शास्त्र के नियमानुसार पालन किया जाए। जब इनमें से किसी अंग का शास्त्र-सम्मत निर्वाह न हो सके तब 'हतवृत्त' दोष कहलाता है। 'कामायनी' में छन्द-विषयक मान्यताओं को मूल रूप में ग्रहण करने का सुन्दर प्रयास हुआ है, किन्तु कुछ छन्दों में गति अथवा यति सम्बन्धी असावधानियाँ अत्यन्त स्पष्ट हैं। यति-सम्बन्धी हतवृत्तत्व देखिए—

(अ) "सावधान ! मैं शुभाकांक्षिणी और कहूं क्या ?
कहना था कह चुकी और अब यहाँ रहूं क्या ?"[2]

---

१. कामायनी, श्रद्धा, पृष्ठ ४५/३-४
२. कामायनी, संघर्ष, पृष्ठ १६५/८

(आ) "मैं शासक, मैं चिर स्वतन्त्र, तुम पर भी मेरा—
हो अधिकार असीम, सफल हो जीवन मेरा।"[1]

इन पंक्तियों में रोला छन्द के प्रयोग का प्रयोग किया गया है। रोला में ११, १३ मात्राओं के क्रम से यति होनी चाहिए, अतः उपर्युक्त दोनों उद्धरणों की प्रथम पंक्तियों में क्रमशः 'गुना' तथा 'स्व' के बाद यति मानी चाहिए थी, जबकि ऐसा है नहीं। अतः यहाँ हतवृत्त नामक काव्य-दोष है।

९. न्यून-पदत्व :

अर्थ करते समय किसी अन्य पद की आकांक्षा बनी रहने पर न्यून-पदत्व दोष की स्थिति होती है। इस दोष के कारण कवि के संवेद्य भाव प्रायः अस्पष्ट ही रह जाते हैं। प्रसादजी द्वारा अनेक स्थलों पर (सम्भवतः छन्दाधिकार के कारण) वाक्य में अपेक्षित शब्दों की उपेक्षा की गई है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(अ) "मैं भी भूल गया हूँ कुछ,
हाँ स्मरण नहीं होता, क्या था !
प्रेम, वेदना, भ्रांति या कि क्या ?
मन जिसमें सुख सोता था।"[2]

(आ) "पर मन भी क्यों इतना ढीला
अपने ही होता जाता है।"[3]

(इ) "इस अर्पण में कुछ और नहीं,
केवल उत्सर्ग छलकता है,
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ
इतना ही सरल झलकता है।"[4]

(ई) "जो काटों की सन्धि बीच उस,
निभृत गुफा में अपने,
अग्नि-शिखा बुझ गई,
जागने पर जैसे सुख सपने।"[5]

१. कामायनी, संघर्ष, पृष्ठ १६८/३
२. कामायनी, आशा, पृष्ठ ४०/४
३. कामायनी, लज्जा, पृष्ठ १०४/३
४. कामायनी, लज्जा, पृष्ठ १०५/५
५. कामायनी, कर्म, पृष्ठ १३६/५

उपर्युक्त सभी उदाहरणों की अन्तिम पंक्तियों में क्रमश: 'सुख' के बाद 'पूर्वक' (अथवा 'से') 'अपने ही' के बाद 'आप', 'सरल' के बाद 'भाव' तथा 'अपने' के बाद 'आप' शब्दों का अध्याहार करने से ही अर्थ-प्रतीति हो पाती है।' अतः यहाँ न्यून-पदत्व दोष है। कहीं-कहीं इस दोष के कारण अर्थ-प्राप्ति में कठिनाई का अनुभव होने लगता है। उदाहरणस्वरूप 'जलधि के फूटें कितने उत्स'[1] में 'कितने' के साथ 'ही' शब्द की अनुपस्थिति खटकती है। यदि प्रमाता 'ही' शब्द का अध्याहार करके 'जलधि के फूटें कितने ही उत्स' जैसा अर्थ-ग्रहण नहीं करेगा तो वाक्य केवल प्रश्न-शैली में ही रह जाएगा—जोकि कवि को अभीष्ट नहीं है। इसी प्रकार निम्नलिखित छन्द में भी पदाकांक्षा के कारण अर्थ-प्राप्ति में कठिनाई हो रही है—

"वे ही पथ-दर्शक हों सब विधि
पूरी होगी मेरी,
चलो आज फिर से वेदी पर
हो ज्वाला की फेरी।"[2]

ये पंक्तियाँ आकुलि-किलात द्वारा मनु को हिंसा-यज्ञ में प्रेरित करते समय कही गई हैं। दो असुरों द्वारा सामूहिक रूप में कथित होने के कारण यहाँ 'मेरी' शब्द में वचन-दोष तो है ही, साथ ही 'पूरी होगी मेरी' द्वारा यह ज्ञात नहीं हो पाता कि क्या पूरी होगी? असुर-द्वय कहना यह चाहते हैं कि हमारी सभी याज्ञिक क्रियाएँ निर्विघ्न पूर्ण हो जाएँगी—जबकि यह अर्थ स्पष्टत: प्रतीत नहीं हो पाता। अतः यहाँ न्यून-पदत्व अथवा आकांक्षा-दोष मानना पड़ेगा।

१०. समाप्तपुनरात्त :

जब किसी छन्द में विषय-विशेष का वर्णन पूर्ण हो जाए, किन्तु कवि उसी छन्द में उसे पुन: प्रारम्भ करे तब 'समाप्तपुनरात्त' दोष होता है। 'कामायनी' में यह दोष अधिक नहीं मिलता, तथापि भावावेश के क्षणों में कवि से ऐसी भूलें हो अवश्य गई हैं। उदाहरणस्वरूप निम्नोद्धृत छन्द देखा जा सकता है—

"चिर किशोर-वय, नित्य विलासी
सुरभित जिससे रहा दिगंत,
आज तिरोहित हुआ कहाँ वह
मधु से पूर्ण अनंत वसंत?"[3]

१. कामायनी, श्रद्धा, पृष्ठ ४६/१
२. कामायनी, कर्म, पृष्ठ ११४/४
३. कामायनी, चिन्ता, पृष्ठ १०/२

इस उदाहरण में प्रथम दो पंक्तियाँ वसन्त के विशेषण-रूप में प्रयुक्त हुई हैं और तीसरी पंक्ति में उसके सहसा तिरोहित हो जाने के विषय में प्रश्न करते हुए भाव समाप्त कर दिया गया है, किन्तु चौथी पंक्ति में वसन्त के अन्य विशेषण (मधु से पूर्ण) को पुनः प्रस्तुत करने के कारण 'समाप्तपुनरात्त' दोष आ गया है।

११ अर्द्धान्तरैकवाचक.

जब किसी छन्द की एक पंक्ति में आने वाला शब्द अन्य पंक्ति में चला जाए तब 'अर्द्धान्तरैकवाचक' दोष होता है। 'कामायनी' में इस प्रकार का एक उदाहरण देखिए—

"जन्म-संगिनि एक थी जो कामबाला, नाम—
मधुर श्रद्धा था, हमारे प्राण को विश्राम—
सतत मिलता था उसी से, अरे जिसको फूल,
दिया करते अर्घ में मकरन्द, सुषमा मूल।"[1]

निष्कर्ष

मम्मट द्वारा निरूपित पदगत एवं वाक्यगत दोषों में से 'कामायनी' में उपर्युक्त दोष विविध स्थलों पर उपलब्ध हैं। स्पष्ट है कि ऐसे दोष काव्य-श्रुति के सौन्दर्य का विघटन करते हैं। इनमें से व्याकरणिक त्रुटियों का परिष्कार तो होना ही चाहिए था, साथ ही अन्य असावधानियाँ भी उपेक्षणीय नहीं कही जा सकतीं। हमें डॉ० रामकुमार वर्मा का यह कथन समीचीन प्रतीत नहीं होता कि "महाकवियों ने कब व्याकरण की चिन्ता की है? वे व्याकरण के पीछे नहीं चलते, व्याकरण उनके पीछे चलता है।"[2] यदि महाकवि ही व्याकरण-विरुद्ध चलने लगेंगे तो साधारण लेखकों की क्या दशा होगी? यदि देखा जाए तो "भाषा अपनी गति-प्रकृति से चले, इसका ध्यान तो कवि को सबसे ज्यादा होना चाहिए। यही तो भाषा का 'सम्यक् ज्ञान' और 'सुप्रयोग' है।"[3] वचन, लिंग, कारक आदि का व्यक्तिगत रुचि के अनुसार प्रयोग करने से भाषा के अव्यवस्थित होने का भय है। वस्तुतः प्रमाता प्रायः भाषा के शुद्ध प्रयोग से परिचित रहता है। काव्य में व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग देखकर उसका क्षुब्ध हो उठना स्वाभाविक है। अतः यद्यपि डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त ने भी डॉ०

1. कामायनी, वासना, पृष्ठ ६२/३
2. विचार-दर्शन, पृष्ठ ५८
3. हिन्दी शब्दानुशासन, किशोरीदास वाजपेयी, पृष्ठ ३७०-३७१

रामकुमार वर्मा की इस उक्ति का समर्थन किया है,[1] किन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वर्माजी ने उपर्युक्त उक्ति में कवि-स्वातन्त्र्य की साग्रह प्रतिष्ठा की है। कवि-कर्त्तव्य यही है कि वह काव्य-दोषों से बचने का सतत प्रयास करता रहे। "कवि को ऐसे अनेक साधन उपलब्ध होते हैं, जिनके द्वारा वह काव्य में सौंदर्य का समावेश कर सकता है। उन सौन्दर्य-साधनों में दोषविहीनता भी एक है, जो काव्य के अन्तर्गत एक उपादेय साधन है।"[2]

यह ठीक है कि 'कामायनी' में दोषों की स्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु केवल इसी आधार पर उसके काव्यत्व में सन्देह करना व्यर्थ है। किसी भी कवि के लिए रचना को पूर्णतः दोष-मुक्त रख सकना सम्भव नहीं है। अतः स्वल्प दोषों की विद्यमानता में भी उसके कवि-कर्तृत्व की प्रशंसा ही करनी चाहिए।

सारांश यह कि 'कामायनी' के विपुल कलेवर और गुण-सम्पदा को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इसमें अनेक दोष होने पर भी गुणों की तुलना में वे अत्यन्त नगण्य हैं। गुणों के सम्मुख दोष स्वयं छिप जाते हैं। महाकवि कालिदास ने भी 'कुमारसम्भव' में 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः'[3] कह कर यह प्रतिपादित किया है कि गुण-सम्पदा में दोष उसी प्रकार लुप्त हो जाता है जिस प्रकार चन्द्रमा का कलंक अपनी किरणों में। अतः भावगत एवं शैलीगत अन्य गुणों के आधिक्य के कारण 'कामायनी' के दोष उन्हीं में खो गये हैं—और इस प्रकार 'कामायनी' का गौरव अक्षुण्ण बना रहता है। कविवर 'दिनकर' के अनुसार भी—"कितने ही सर्गों की शिथिलता मन को कुरेदती है। कितनी ही पंक्तियों की असमर्थता मन में खीज उपजाती है। किन्तु, सब कुछ देख लेने पर इतना जरूर कहना पड़ता है कि यह काव्य विचारों के बहुत ही ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित है और इसका देशव्यापी सुयश बिलकुल अकारण नहीं है।"[4] प्रसादजी के समकालीन विद्वान् पं० विनोदशंकर व्यास ने तो 'कामायनी' के भाव एवं शिल्पगत सौन्दर्य पर विचार करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि 'रामचरितमानस के बाद यही एक ऐसा महाकाव्य है

---

१. 'इस उक्ति में कवि-स्वातन्त्र्य का निर्बन्ध प्रतिपादन हुआ है, किन्तु इसमें अनुचित कुछ भी नहीं है।'

—आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त, पृष्ठ ४४६

२. हिन्दी काव्यशास्त्र में दोष-विवेचन, टंकित प्रति (डॉ० रणवीरसिंह), पृष्ठ ४६

३. कुमारसंभव, पृष्ठ १/३

४. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृष्ठ ८३

जो हिन्दी को विश्वसाहित्य में स्थान दिला सकता है। होमर, मिल्टन, वाल्मीकि और कालिदास से तुलना करके भी इसका गुण-दोष देखा जाय—इतनी योग्यता इस कलाकृति में है।"[1]—प्रसाद-काव्य के विरोधी विद्वान् इस कथन से पूर्णतः सहमत नहीं हो सकेंगे, किन्तु इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि 'कामायनी' में गुणों का इतना आधिक्य है कि उसके सम्मुख शिल्प-सम्बन्धी अनवधानता की चर्चा तुच्छ प्रतीत होती है।

---

१ प्रसाद और उनका साहित्य, पृष्ठ २०२

११
छायावाद का गौरव-ग्रन्थ

(अ) छायावाद : स्वरूप और विवेचन

छायावाद का उद्भव द्विवेदी-युग की स्थूल कविताओं की प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ था तथापि इसे आधुनिक काल की ही देन मानना उपयुक्त न होगा। अभिव्यक्ति की इस नवीन प्रणाली के प्रवर्तक स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद ने अपने 'यथार्थवाद और छायावाद' शीर्षक निबन्ध मे लिखा है कि सस्कृत के प्राचीन कवियों की रचनाओं में भी छायावादी अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं। अपने कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने कालिदास के मेघदूत से "जनपदवधूलोचनैः पीयमानः" पंक्ति उद्धृत करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि जनपद की वधुओं द्वारा मेघों को नेत्रो से पीना छायावादी प्रभाव का ही द्योतक है। संस्कृत में ही नही अपितु हिन्दी के 'रामचरितमानस' आदि प्राचीन काव्य-ग्रन्थों मे भी हमे यत्र-तत्र छायावादी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। किन्तु प्रत्यक्ष निरूपण और परिमाण की दृष्टि से इसका वास्तविक जन्म द्विवेदी-युग में ही हुआ।

द्विवेदी-युग की स्थूल विषयों पर आधारित इतिवृत्तात्मक कविताओं के कारण हिन्दी कविता का विकास ऐसी दिशा में हुआ जिसे पश्चिमी काव्य-प्रेमी तनिक भी पसन्द न करते थे। अतः कुछ कवियो ने तत्कालीन आलोचको के विरोध की तनिक भी चिन्ता न करते हुए कल्पना और सौन्दर्य के आधार पर अनेक श्रेष्ठ कविताओं की रचना की। धीरे-धीरे यह नवीन काव्य-धारा अत्यधिक लोकप्रिय होती गई और पच्चीस-तीस वर्षों मे ही इस धारा के कवियो ने पर्याप्त साहित्य का प्रणयन कर लिया।

छायावाद की परिभाषा के विषय में विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वानो के अनुसार इसका प्रधान तत्त्व प्रकृति पर मानवीय चेतना का आरोप करना है। डॉ० नगेन्द्र प्रभृति अन्य आलोचको के अनुसार इसकी मूल प्रवृत्ति स्थूल से विमुख

होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह है, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो इसे पश्चिम के अभिव्यञ्जनावाद, प्रतीकवाद आदि की भाँति शैली का एक प्रकार मात्र ही मानते हैं। वास्तव में छायावाद का जन्म द्विवेदीयुगीन कविता की स्थूलता, नैतिकता, इतिवृत्तात्मकता तथा बाह्याभिव्यक्ति की प्रधानता से निराश होकर काव्य में सौन्दर्य, कल्पना तथा आत्माभिव्यक्ति का प्रवर्तन करने के लिए हुआ था। इसी कारण प्रसादजी ने छायावाद की व्याख्या करते समय एक स्थान पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं "पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।" प्रसादजी की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि छायावाद में आत्माभिव्यक्ति को प्रधानता प्रदान की गई है अर्थात् यह स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है।

मूल तत्त्व

व्यक्तिवाद, शृंगारिकता, प्रकृति का मानवीकरण, विषाद, सौन्दर्योपासना आदि छायावाद के मूल तत्त्व हैं जिनकी पृथक्-पृथक् व्याख्या करना आवश्यक है।

(क) व्यक्तिवाद

छायावादी कवि संसार से विमुख होकर अपने सर्वथा पृथक् दृष्टिकोण का निर्माण कर समस्त संसार को अपनी भावनाओं से प्रभावित देखता है। शास्त्रीय शब्दावली में हम कह सकते हैं कि यह विषय पर विषयी की मनसा का आरोप करता है। व्यक्तिवाद का दूसरा रूप समष्टि-निरपेक्ष होकर व्यक्ति को महत्त्व प्रदान करता है और इस प्रकार छायावादी काव्य का विषय द्विवेदीयुगीन बहिरंग सामाजिक जीवन की अपेक्षा अन्तरंग व्यक्तिगत जीवन हो गया।

(ख) शृंगारिकता व सौन्दर्योपासना :

द्विवेदी-युग में स्वयं द्विवेदीजी तथा अन्य कवि देशभक्तिपरक एवं नैतिकता से ओत-प्रोत काव्य-रचना किया करते थे। नारी का सौन्दर्य-चित्रण उस समय वर्जित था। किन्तु मनोविज्ञान के अनुसार पुरुष में नारी का रूप-चित्रण करने की स्वाभाविक लालसा होती है। अतः द्विवेदीजी के नैतिक अंकुश का प्रत्यक्ष रूप से विरोध न कर सकने के कारण छायावादी कवियों की भावाभिव्यक्ति अप्रत्यक्ष शृंगार के रूप में प्रकट हुई। इस अप्रत्यक्ष शृंगार को उन्होंने दो रूपों में प्रस्तुत किया है—(१) प्रकृति के प्रतीकों द्वारा शृंगार-वर्णन अर्थात् प्रकृति पर नारी-भाव

का आरोप, (२) नारी के मन और आत्मा का सौन्दर्य-चित्रण तथा उसके शरीर का अमांसल चित्रण।

इस प्रकार छायावाद में नारी का अमांसल चित्रण होने के कारण उसमें वासना की मात्र अत्यन्त अल्प है।

(ग) प्रकृति का मानवीकरण :

छायावादी कवियों ने वैसे तो काव्य के सभी विषयों में कल्पना का प्रयोग किया है, किन्तु प्रकृति-चित्रण में इससे सर्वाधिक सहायता ली गई है। इसी के आधार पर उन्होंने प्रकृति को चेतन रूप में उपस्थित करके मानवीकरण की प्रणाली को जन्म दिया है। इस प्रणाली में कवि प्रकृति पर मनुष्य की सभी क्रियाओं का आरोप करता है।

(घ) विषाद :

छायावादी काव्य में शृंगार का प्राधान्य होने पर भी विषाद, वेदना आदि भावों का सहज समावेश है। महादेवी वर्मा तो जगत् को वेदना-प्रधान ही मानती हैं—

"विकसते मुरझाने को फूल,
उदय होता छिपने को चन्द्र।"

छायावाद की भाषा-शैली :

छायावादी काव्य की शैली में इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर वक्रता एवं सांकेतिकता है। इसमें अभिधा के स्थान पर लक्षणा एवं व्यंजना की प्रधानता है तथा भाषा में माधुर्य को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। अर्थों के अनुकूल ही शब्द-योजना हुई है—('पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश'—पंत)। छन्दों का प्रयोग भी सर्वथा नवीन रूप में हुआ है। कवित्त, सवैया आदि प्राचीन छन्दों के स्थान पर छोटे-छोटे संगीत-प्रधान छन्दों की योजना की गई है। मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त निराला आदि कवियों ने लय को महत्ता देते हुए मुक्त छन्दो का सफल प्रयोग भी किया है। स्थूल एवं मूर्त उपमेयों के स्थान पर सूक्ष्म एवं अमूर्त उपमानों का प्रयोग इस धारा के कवियों की विशेषता है। प्रतीकात्मक शब्दावली का प्रयोग भी प्रायः सभी छायावादी कवियों ने किया है।

छायावाद-विषयक भ्रान्तियाँ :

छायावाद के विषय में तीन प्रकार की भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। प्रथम भ्रान्ति को जन्म देने वालों में वे आलोचक है जो छायावाद और रहस्यवाद को अभिन्न

मानते हैं। उनके अनुसार रहस्यवाद का ही दूसरा रूप छायावाद है, किन्तु यह कथन समीचीन प्रतीत नहीं होता। रहस्यवाद धार्मिक साधना पर अवलम्बित रहस्यानुभूति है, जबकि छायावाद बौद्धिक युग की सौंदर्योपासना है।

द्वितीय भ्रान्ति उन आलोचकों की फैलाई हुई है जो यूरोप की रोमांटिक कविता एवं छायावादी काव्य को एक ही मानते हैं। डॉ० नगेन्द्र भी पहले इन्हीं आलोचकों से सहमत थे, किन्तु अब उनकी विचारधारा परिवर्तित हो गई है। वास्तव में छायावाद और रोमांटिक काव्य सर्वथा भिन्न हैं। छायावादी काव्य में वर्ड्सवर्थ, शैले आदि के समान अनुभूति और आवेग की प्रबलता नहीं है।

तृतीय भ्रान्ति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की वस्तुपरक दृष्टि के कारण फैली। वे अनुभूति तथा अभिव्यक्ति में अन्तर मान कर छायावाद को शैली का एक प्रकार मात्र मानते हैं। किन्तु किसी भी श्रेष्ठ काव्य की रचना केवल शैली की भिन्नता द्वारा नहीं की जा सकती। उसके लिए अनुभूति व अन्त:प्रेरणा आवश्यक है। छायावादी काव्य निस्सन्देह श्रेष्ठ काव्य है। अत: वह शैली का प्रकार मात्र नहीं है।

वस्तुत: छायावाद के शैशव में ही इसके विकास के विषय में आलोचकों को सन्देह था। उस समय की प्रसिद्ध पत्रिकाओं में इस काव्य-धारा पर अनेक व्यंग्योक्तियाँ प्रकाशित होती थीं। जैसे—

'किसने छायावाद चलाया, किसको है यह भाया ?
हिन्दी भाषा में यह न्यारा, वाद कहाँ से आया ?'

किन्तु यह 'न्यारा वाद' तीस-बत्तीस वर्षों में ही इतना अधिक लोकप्रिय हो गया कि यद्यपि इसका स्थान प्रगतिवाद और तदनन्तर प्रयोगवाद ने ग्रहण कर लिया है, तथापि छायावादी परम्परा का सर्वथा अन्त नहीं हो पाया है।

छायावादी काव्य का मूल्यांकन :

छायावादी काव्य ने जीवन के कुण्ठित मूल्यों को सौंदर्य-चेतना के रूप में मुखर करके सामाजिक रुचि को अपेक्षाकृत परिष्कृत किया तथा काव्य-दृष्टि को ऐसी प्रखरता प्रदान की कि वह सूक्ष्म भावनाओं को भी ग्रहण कर सके। इसके अतिरिक्त इसने भाषा की अभिव्यंजना शैली में नूतनता का समावेश किया। इन विशेषताओं के साथ ही छायावादी काव्य में कुछ दोष भी आ गए हैं। यह काव्य वास्तविक जीवन की यथार्थता का चित्रण करने की अपेक्षा कल्पना से अनुप्राणित है। इसमें चित्र-मोह तथा छन्द-मोह के अतिरिक्त विचारगत एवं भावगत सामंजस्य का अनेक स्थानों पर अभाव है।

(आ) 'कामायनी' में छायावादी तत्व

कामायनी की रचना छायावाद युग की प्रौढ़ वेला में हुई थी ; अतः इसमें छायावाद की सभी विशेषताओं का आना स्वाभाविक था। वैसे प्रसादजी की 'झरना' नामक कृति से छायावाद का प्रारम्भ माना जाता है, अतः छायावाद के प्रवर्तक कवि 'प्रसाद' की श्रेष्ठतम रचना 'कामायनी' में भी छायावाद के गुणों का आना आवश्यक था। हम 'कामायनी' में इस काव्य-धारा की भावना एवं शैली-सम्बन्धी विशेषताओं का मूल्यांकन करेंगे।

छायावादी भावगत विशेषताएँ और 'कामायनी'

छायावादी काव्य की भावगत मुख्य विशेषताएं हैं—आत्माभिव्यंजना, अतीन्द्रिय शृंगारिकता, प्रकृति पर चेतना का आरोप, कल्पना का आधिक्य।

(१) आत्माभिव्यंजना :

द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रियास्वरूप लिखे जाने के कारण छायावादी काव्य में आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता है। यह आत्माभिव्यंजना दो प्रकार से हुई है— (अ) बाह्य वस्तु को अपनी भावना और कल्पना के रंग में रँग कर देखना, (आ) अपने ही सुख-दुःख को व्यक्त करना, अर्थात् समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि में लीन रहना। 'कामायनी' में आत्माभिव्यंजना की दोनों प्रणालियाँ मिल जाती हैं—

"संध्या घनमाला की सुन्दर ओढ़े रंग-बिरंगी छींट
गगनचुम्बिनी शैल-श्रेणियाँ, पहने हुए तुषार-किरीट।"

हाँ, यह अवश्य है कि 'कामायनी' में कवि के अपने ही सुख-दुःख और आशा-निराशा की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं है। इसका कारण यह है कि 'कामायनी' महाकाव्य है, और महाकाव्य के लिए एक आवश्यक प्रतिबन्ध यह है कि उसमें जीवन और जगत् का व्यापक चित्रण किया जाए। अतः ऐसी स्थिति में 'प्रसाद' व्यष्टि में ही लीन नहीं रह सकते थे। फिर भी, चिंता, आशा, श्रद्धा आदि सर्गों में मनु, श्रद्धा अथवा काम की उक्तियों के रूप में कवि के स्वानुभूत सुख-दुःख की विवृत्ति से स्पष्ट है कि प्रसादजी छायावाद की इस प्रमुख प्रवृत्ति से सर्वथा बच नहीं सके थे।

(२) अतीन्द्रिय शृंगारिकता :

द्विवेदीयुगीन साहित्य में नैतिकता का प्राधान्य होने के कारण शृंगार के प्रति उपेक्षा का भाव था। छायावादी काव्य में इसकी भी प्रतिक्रिया हुई, और

परिणाम यह हुआ कि इस धारा के कवियों ने शृंगार को कविता का आवश्यक अंग मान लिया। काव्य पर नैतिकता का पूर्व-अंकुश होने के कारण ये कवि स्थूल शृंगार का वर्णन नहीं कर सके। अत इन्होंने अतीन्द्रिय शृंगार अर्थात् मन और आत्मा के सौन्दर्य को प्रधानता दी। प्रसाद, पंत, महादेवी आदि सभी के काव्य में सौन्दर्य के अमांसल चित्र मिलते हैं। 'कामायनी' भी इसका अपवाद नहीं है। श्रद्धा और मनु का रूप-वर्णन करते समय प्रसादजी ने इनके भावों और विचारों का निरूपण करके अन्तर्वर्ती सौन्दर्य का उद्घाटन किया है। उन्होंने वासना-व्यंजक विशेषणों का सर्वथा त्याग करके केवल ऐसे-ऐसे विशेषण रखे हैं, जिनसे निष्कलुषता का वातावरण स्वत प्रस्तुत हो जाता है। 'नित्य यौवन की छवि से दीप्त', ज्योत्स्ना-निर्झर', 'हृदय की सौन्दर्य-प्रतिमा' आदि इसी प्रकार के विशेषण हैं।

'कामायनी' में 'और एक फिर व्याकुल चुम्बन, रक्त खौलता जिससे' जैसी पंक्तियों में कहीं-कहीं शृंगार के मांसल चित्र भी उभर आए हैं, किन्तु ऐसे दो-एक अपवादों के अतिरिक्त प्रसादजी की भावुकता अश्लीलता की अस्पृश्य भूमि का स्पर्श करने से बचती रही है। श्रद्धा और मनु की मैथुनिक क्रीड़ा तथा इड़ा के साथ मनु के बलात्कार का वर्णन करते समय यह दोष आ सकता था, किन्तु वहाँ भी सांकेतिक अभिव्यक्ति द्वारा प्रसादजी इससे बच गए हैं। तात्पर्य यह कि 'कामायनी' में शृंगार के मांसल चित्रों के स्थान पर छायावादी प्रभाव-स्वरूप अतीन्द्रियता की ही प्रमुखता है।

(३) प्रकृति पर चेतना का आरोप

छायावादी काव्य की एक अन्य विशेषता जड़ पदार्थों में भी चेतना का संचार करना है। प्रकृति का मानवीकरण इसकी अत्यन्त स्वस्थ एवं समुन्नत देन है। यद्यपि यह प्रणाली पूर्ववर्ती काव्य में भी न्यूनाधिक रूप में उपलब्ध है, तथापि छायावादी युग में ही इसका विशेष प्रसार हुआ। 'कामायनी' में इस प्रकार के उपचारों की कमी नहीं है—

"पगली, हाँ, सम्हाल ले, कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल,
देख, बिखरती है मणिराजी, अरी उठा बेसुध चंचल।"

यहाँ अचेतन रात्रि का मानवीकरण करते हुए एक पागल स्त्री से उसका साम्य स्थापित किया गया है। प्रसाद जैसे सजग और कला-प्रेमी कवि ने 'कामायनी' में इस प्रकार के सादृश्य-वर्णनों द्वारा प्रकृति पर मानवीय भावों का आरोपण करके वर्णन विच्छित्ति का अपूर्व समावेश किया है। मानवीकरण के माध्यम से सौंदर्य प्रतीति कराने वाले केवल दो स्थल और देखिए—

(अ) "आह शून्यते! चुप होने में, तू क्यों इतनी चतुर हुई,
इन्द्रजाल-जननी! रजनी तू, क्यों अब इतनी मधुर हुई।"

(आ) "उषा सुनहले तीर बरसती, जय लक्ष्मी-सी उदित हुई,
उधर पराजित काल-रात्रि भी, जल में अन्तर्निहित हुई।"

(४) आध्यात्मिकता :

छायावादी काव्य किसी-न-किसी रूप में सर्ववाद अथवा अद्वैतवाद से प्रभावित रहा है। इसी कारण अधिकांश छायावादी कविताओं में अज्ञात शक्ति के प्रति आकर्षण एवं कौतूहल की भावना रहती है। उदाहरणार्थ, 'कामायनी' के 'आशा' सर्ग की निम्नस्थ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

"सिर नीचा कर किसकी सत्ता सब करते स्वीकार यहाँ
सदा मौन हो प्रवचन करते जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?"

'कामायनी' के कथानक में तो कवि ने स्पष्टतः दार्शनिकता का समावेश किया है। इस महाकाव्य में प्रसादजी ने शैव-दर्शन के आनन्दवाद को स्वीकार करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि मानव-मन जीवन में श्रद्धा और बुद्धि को समान महत्त्व देते हुए ही समरसता अथवा आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। अतः 'कामायनी' में छायावादी आध्यात्मिकता की प्रवृत्ति आद्योपान्त उपलब्ध है।

(५) कल्पना का आधिक्य :

छायावादी काव्य की एक अन्य विशेषता है—कल्पना की प्रचुरता। किसी भी वस्तु का यथातथ्य वर्णन करने के स्थान पर ये कवि कल्पना का उन्मुक्त प्रयोग करके उसमें सौन्दर्य का अपूर्व विधान करते हैं। 'कामायनी' में यह कल्पना दो रूपों में देखी जा सकती है—(अ) कथानक में, (आ) विविध वस्तुओं का वर्णन करते समय। प्रसादजी ने इस महाकाव्य में यद्यपि ऐतिहासिक-पौराणिक कथानक को ग्रहण किया है, तथापि विविध कथा-सूत्रों में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए वे स्थान-स्थान पर कल्पना को भी उपयोग में लाए हैं। इस सम्बन्ध में कामायनीकार की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है कि "कामायनी की कथा-शृंखला मिलाने के लिए कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत कल्पना को भी काम में ले आने का अधिकार मैं नहीं छोड़ सका हूँ।"

कल्पना का दूसरा रूप भी 'कामायनी' में आद्योपान्त मिलता है। यहाँ यह संकेत करना अप्रासंगिक न होगा कि प्रसादजी ने असम्भव अथवा अतिरंजित कल्पनाएँ नहीं की हैं। अतः विविध वस्तुओं के वर्णन में कल्पना का आश्रय लेने से उनका रूप अपेक्षाकृत अधिक निखर गया है और उनमें प्रभावोत्पादन की शक्ति भी बढ़ गई है। केवल एक उदाहरण देखिए—

"नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ-बन-बीच गुलाबी रंग।"

यहाँ प्रसादजी ने श्रद्धा के उरोजों को बिजली के फूल के समान कल्पित किया है। इस कल्पना द्वारा उरोजों का गौरवर्ण और अत्यन्त आकर्षणमय रूप बनाना कवि का अभीष्ट है। बिजली में पुष्प के समान आह्लादकता नहीं होती, और पुष्प में बिजली के समान चमचमाहट नहीं होती। किन्तु, ये दोनों गुण उरोजों में विद्यमान हैं। इस विशेषता की सिद्धि ही कवि का एकमात्र साध्य है। अतः यहाँ कवि-कल्पना के कारण सौन्दर्य का आधान हुआ है। 'कामायनी' में कल्पना का यह सौन्दर्य अनेक स्थानों पर उपलब्ध है।

छायावादी कलागत विशेषताएँ और 'कामायनी'

भावगत विशेषताओं के साथ ही 'कामायनी' में छायावादी काव्य के कला-सम्बन्धी संस्कार भी पूर्णतः विद्यमान हैं। छायावादी काव्य की विषय-वस्तु और दृष्टिकोण में ही नहीं, इसकी रचना-प्रक्रिया में भी विद्रोह की भावना थी। इससे पूर्व काव्य की भाषा अभिधात्मक होती थी, किन्तु छायावादी काव्य में लाक्षणिक भंगिमाओं को महत्त्व दिया गया तथा प्रतीकों के माध्यम से सांकेतिक अभिव्यक्ति की गई। भाषा-माधुर्य के प्रति भी इस काव्य-धारा के कवि पर्याप्त सजग थे। संक्षेप में, छायावादी काव्य की कलागत मुख्य विशेषताएँ ये हैं—(१) लाक्षणिक एवं ध्वन्यात्मक सौन्दर्य, (२) प्रतीक-विधान, (३) भाषा-माधुर्य।

(१) लाक्षणिक सौन्दर्य .

छायावादी कवियों की अनुभूति अत्यधिक सूक्ष्म-सौन्दर्यमयी होने के कारण अभिधा द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती थी। अभिधा द्वारा तो शब्द के मुख्यार्थ का ही बोध हो पाता है, जबकि इन कवियों ने विशिष्ट अर्थों को प्रकट करने का प्रयास किया था। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि छायावादी काव्य लक्षणा और ध्वनि का काव्य है। वस्तुतः लाक्षणिक उक्तियों द्वारा भाषा में नवीन प्राणवत्ता, तड़प एवं हृदयग्राहिता उत्पन्न करना छायावाद का व्यावर्तक धर्म था। छायावाद की इस विशेषता को उसके कीर्ति-स्तम्भ 'प्रसाद' द्वारा कैसे अस्वीकृत किया जा सकता था। केवल 'कामायनी' में ही इसका इतना अधिक आश्रय लिया गया है कि उन्हें इसका अत्यन्त प्रिय कवि कहने में किसी प्रकार की अत्युक्ति न होगी। इस महाकाव्य का तो प्रत्येक पृष्ठ लाक्षणिक भंगिमाओं से मुखर हो उठा है। कतिपय निदर्शन देखिए—

(अ) "आह ! कल्पना का सुन्दर यह जगत मधुर कितना होता।"

(आ) "बढ़ा मन और चले ये पैर, शैल-मालाओं का शृंगार
आँख की भूख मिटी यह देख, आह कितना सुन्दर सम्भार !"

(६) "चल पड़े कब से हृदय दो, पथिक-से अश्रान्त।"

'कामायनी' में भावावेग की अवस्था में प्रसादजी ने लगातार अनेक छन्दों में केवल लक्षणा के माध्यम से ही भावाभिव्यक्ति की है। 'काम' तथा 'लज्जा' के प्रकरण इसी प्रकार के हैं। इन स्थलों पर अभिधा का सरल व्यक्तित्व कवि को अपनी ओर आकर्षित करने में पूर्णत: असफल रहा है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रसादजी ने मुहावरों के बहुल प्रयोग द्वारा भी 'कामायनी' में लाक्षणिक सौन्दर्य का समावेश किया है। मुहावरे का वास्तविक अर्थ सकेतित अर्थ से भिन्न होता है। इसी कारण वह अभिधा की अपेक्षा लक्षणा के आश्रित रहता है। प्रसादजी द्वारा प्रयुक्त गहरी नींव डालना, व्योम चूमना, शब्दों को पीना, साँस उलझना, रंग बदलना, अँधेर मच जाना, दाँव हारना, सिर नीचा करना, तिल का ताड़ बनाना, पला हुआ सुआ, लहू का घूँट पीना, मुँह मोड़ना, होड़ लगाना, कर पसारना, पैरों चलना, आँखें लाल करना, सिर चढ़े रहना आदि मुहावरे उनकी सशक्त अभिव्यंजना के प्रमाण हैं। काव्य-चमत्कार की सिद्धि के लिए उन्होंने इनका प्रयोग करके अपनी भाषा-प्रवीणता का परिचय दिया है।

(२) प्रतीक-विधान :

प्रतीकात्मक शब्दों का प्रयोग भी छायावाद की प्रमुख विशेषता है। प्रतीकों द्वारा जितनी सजीवता से किसी वस्तु को ध्वनित किया जाता है, उतना अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं। अत: भावों की सफल अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक अत्यन्त काव्योपयोगी उपकरण हैं। छायावादी कवियों की मूल चेतना प्रकृति के माध्यम से व्यक्त हुई है। अतः उन्होंने प्रकृति-क्षेत्र से ही अधिकांश प्रतीक लिए हैं। परम्परागत प्रतीकों के साथ-साथ नवीन प्रतीकों द्वारा भाषा को लाक्षणिक सौन्दर्य प्रदान करके उसमें नवीन अर्थों का समावेश करने में इन कवियों का असाधारण योग रहा है। 'कामायनी' की भाषा में भी दोनों प्रकार के प्रतीकों द्वारा नवीन अर्थवत्ता का समावेश किया गया है। रूढ़ प्रतीकों की दृष्टि से प्रसादजी ने काँटे, कुसुम, शलभ जैसे अनेक प्रतीकों को ग्रहण किया है, जो क्रमशः जीवन की बाधाओं और विषमताओं; सुख और ऐश्वर्य, तथा एकनिष्ठ प्रेमी के लिए व्यवहृत हुए हैं।

प्रसादजी ने प्रतीकात्मक शब्दों का निर्माण भी किया है। उदाहरणार्थ किशोरावस्था के बाद के समय के लिए 'रजनी के पिछले पहर' अथवा हृदयगत उल्लास के लिए 'मतवाली कोयल' के प्रतीकत्व को लिया जा सकता है। 'कामायनी' में शैव-दर्शन से सम्बद्ध प्रतीकात्मक शब्दावली भी प्रयुक्त हुई है। गोलक (ज्योतिष पिंड), अणु (तुच्छ जीव), भूमा (सामरस्य की स्थिति), कारण जलधि (अहं) आदि ऐसे ही सैद्धान्तिक प्रतीक हैं।

तात्पर्य यह कि छायावादी युग का प्रमुख काव्य-ग्रन्थ होने के कारण 'कामायनी' में प्रतीकों के माध्यम से अनेकानेक भावों की अभिव्यक्ति करके ध्वन्यात्मक धारणा की वृद्धि की गई है। "सौन्दर्य की अनुभूति के साथ-ही-साथ हम अपने संवेदन को आकार देने के लिए उनका प्रतीक बनाने के लिए बाध्य हैं।"[1] यह कर आलोच्य कवि ने स्वयं भी प्रतीकों की असन्दिग्ध महत्ता को स्वीकार किया है।

(३) भाषा-माधुर्य :

छायावादी काव्य की एक अन्य विशेषता भाषागत माधुर्य और प्रवाह के रूप में देखी जा सकती है। भाषा-माधुर्य के लिए इन कवियों ने कोमल एवं अनुस्वारिक शब्दों को चुना तथा आवश्यकता पड़ने पर वर्ण-परिवर्तन की प्रवृत्ति को भी सहर्ष स्वीकार किया। इसी प्रकार प्रवाह-वृद्धि के लिए उन्होंने पुनरुक्त शब्दों का पर्याप्त प्रयोग किया और कतिपय शब्दों के प्रति विशेष आसक्ति दिखाई। छायावादी काव्य-भाषा की ये सभी विशेषताएँ पन्त-काव्य में अपने चरमोत्कर्ष पर हैं। 'कामायनी' की भाषा पर भी इन सभी का प्रभाव पड़ा है। कोमल एवं अनुस्वारिक शब्द तो इसमें आद्योपान्त उपलब्ध हैं ही, शेष विशेषताएँ इस प्रकार देखी जा सकती हैं—

(अ) वर्ण परिवर्तन—प्रान, मरोर, विरल, प्रतारित, पाँत (पंक्ति), पतझर, उड़गन आदि।

(आ) पुनरुक्त शब्द—कहते-कहते, राशि-राशि, नस-नस, धीरे-धीरे, धीमे-धीमे, हरी-भरी, छुई-मुई, मास-मास आदि।

(इ) शब्द-मोह—मधुर, मधु, महा, चिर तथा नव शब्दों का स्थान-स्थान पर विशेषत्वेन प्रयोग।

उपसंहार

उपर्युक्त अध्ययन के आलोक में यह कहा जा सकता है कि 'कामायनी' में छायावादी काव्य के सभी प्रमुख तत्त्व प्रचुर-मात्रा में उपलब्ध हैं। छायावादी काव्य की जितनी भी भावगत एवं कलागत विशेषताएँ सम्भव हो सकती हैं, वे सभी 'कामायनी' में मुखर हो उठी हैं। अतः यह छायावादी काव्य का श्रेष्ठ निदर्शन है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि 'कामायनी' को छायावादी काव्य न मानने का केवल एक कारण हो सकता है—और वह है इसकी प्रबन्धात्मकता। छायावादी काव्य प्रगीतों अथवा स्फुट कविताओं के रूप में लिखा गया है। अतः

[1] काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ३५

ऐसी स्थिति में प्रश्न उठ सकता है कि जब काव्य-रूप की दृष्टि से प्रगीत मुक्तक लिखना ही छायावादी युग की विशेषता है तब 'कामायनी' जैसे महाकाव्य को छायावाद की श्रेष्ठ उपलब्धि मानना कहाँ तक संगत होगा ? किन्तु, इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है कि महाकाव्य होते हुए भी 'कामायनी' की प्रबन्ध-कल्पना छायावादी दृष्टि से ही की गई है। छायावादी काव्य की मूलभूत विशेषता है अन्तर्मुखी प्रवृत्ति तथा सांकेतिक अर्थ-व्यंजना। 'कामायनी' में भी इन्हीं दोनों का प्राधान्य है। इसकी कथावस्तु ब्रह्माण्ड में घटित न होकर पिण्ड में ही विकसित होती रही है। साथ ही, इसमें ऐतिहासिक कथानक के अतिरिक्त रूपक के माध्यम से मनस्तत्व-सम्बन्धी सांकेतिक अर्थ भी व्यंजित होता है। अतः 'कामायनी' की प्रबन्धात्मकता छायावाद के अनुकूल ही है,।

फिर, छायावाद-युग में प्रबन्ध-काव्यों का एकान्त अभाव भी तो नहीं है। पंतजी की 'ग्रन्थि' अथवा कवि 'निराला' की 'तुलसीदास' एवं 'राम की शक्ति-पूजा' शीर्षक रचनाएँ अपने में प्रबन्ध-तत्त्वों को आत्मसात् किये हुए हैं। अतः किसी भी दृष्टि से देखने पर यही प्रमाणित होता है कि 'कामायनी' छायावाद की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। आचार्य शान्तिप्रिय द्विवेदी ने भी छायावाद के इस अमर काव्य-ग्रन्थ की महत्ता का उद्घोष करते हुए अपने 'युग और साहित्य' ग्रन्थ में लिखा है कि "सब मिला कर यह काव्य वर्तमान छायावाद का उपनिषद् है, पिछले युग के कवित्व का अन्तिम स्तूप है। नवीन युग इसके आगे है।"[1]

---

१. युग और साहित्य, पृष्ठ २८१

१२

दार्शनिक-विचार

दर्शन और काव्य तत्त्वतः दो विभिन्न विषय हैं और दार्शनिक-कर्म तथा कवि-कर्म पृथक्-पृथक् हैं भी, किन्तु स्वस्थ दृष्टिकोण के अंतर्गत इस बात को स्वीकार करना होगा कि युगों-युगों से कवि लोग अपने कुछ विशिष्ट विचारों अथवा जीवन-दर्शन के प्रतिपादन और निश्चित उद्देश्यों की अभिसिद्धि के लिए दर्शन का सहयोग लेते आए हैं। 'कामायनी' के अंतर्गत प्रसादजी का मूल प्रतिपाद्य है आनंदवाद और इस विषय की तह में जाने के लिए उन्होंने शैवागमों के प्रत्यभिज्ञादर्शन को आधार बनाया है। उनके निबंध-संग्रह 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' में भी स्थान-स्थान पर शैवागमों की गंभीर चर्चा मिलती है जिससे ज्ञात होता है कि वे शैवागमों के अध्येता थे। आधार की जो बात मैंने ऊपर उठाई है उससे एकदम यह नहीं समझ लेना चाहिए कि 'कामायनी' में दर्शन के स्तर पर जो बात कही गई है वह केवल शैवागमों के प्रत्यभिज्ञादर्शन से ही संबंधित है। हम आगे देखेंगे कि अन्य दर्शनों तथा विचारधाराओं का प्रभाव भी इस स्तर तक पहुँचा है। हाँ, यह कहने में कोई हिचक नहीं हो सकती कि शैवागमों की भूमि से उसे सबसे अधिक पोषण प्राप्त हुआ है।

शैवागमों में प्रतिपादित सिद्धांतों के मूल प्रवक्ता शिव माने गए हैं। इनका प्रचार भारतवर्ष के दक्षिण और पश्चिमी भागों में अधिकतर रहा है। दक्षिण में अट्ठाईस आगम ग्रंथ मुख्यतः प्रचलित रहे हैं और उत्तर में ग्यारह। श्री माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शन संग्रह' में शैवदर्शनों के चार प्रकारों का वर्णन किया है। वे हैं — (१) नकुलीश पाशुपतदर्शन, (२) शैवदर्शन, (३) प्रत्यभिज्ञादर्शन, और (४) रसेश्वरदर्शन। त्रिकागम दर्शन का उल्लेख इन आचार्यों ने नहीं किया है। यह हो सकता है कि इनके समय में यह अल्पविकसित होने के कारण चर्चा का विषय न बन सका हो। अब स्थिति इसके विपरीत है। रसेश्वरदर्शन की परंपरा लुप्तप्राय हो चुकी है और त्रिकागम दर्शन का विकास और प्रचार बढ़ता जा रहा है।

इनमे से प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रवर्त्तन का श्रेय आचार्य वसुगुप्त को है। इस संबंध में एक प्रचलित किंवदंती इस प्रकार है कि इस दर्शन का विकास काश्मीर मे महादेवगिरि पर अंकित उन सतहत्तर शिव-सूत्रों के आधार पर हुआ है जिनका परिचय आचार्य वसुगुप्त को स्वयं शिव ने स्वप्न मे दे दिया था। बाद मे इन्होंने अपनी 'स्पंदकारिका' मे इन सूत्रो का उद्धार किया और प्रस्तुत दर्शन का स्वरूप निर्मित किया। काश्मीर मे विकसित होने के कारण इस दर्शन को काश्मीर-शैवदर्शन भी कहा जाता है।

'कामायनी' का प्रतिपाद्य आनंदवाद प्रत्यभिज्ञादर्शन का एक मुख्य विषय है। इसे चिदानंद भी कहा गया है। पहले इसी पर विचार किया जाए।

आनंदवाद

'कामायनी' की यह एक प्रमुख घटना है जिसमें मनु मानसरोवर की यात्रा करते हैं। वस्तुत. यह यात्रा मानव-मन की आनंद-साधना का उद्योग है। इसके दो छोर हैं। पहला छोर है चिंता और दूसरा आनंद। इस प्रकार कवि का चरम उद्देश्य है मानव को चिंता से आनंद तक ले जाना और इसी रूप मे कामायनी के नायक का प्राप्य है आनंद। यही उसका साध्य है। इस साधना का प्रधान तत्त्व है श्रद्धा और सामरस्य इसका साधन। मतलब यह कि सामरस्य यदि साधन है, प्रयत्न है तो आनंद साध्य और फलागम है। स्पष्ट है कि सामरस्य को आनंद के पर्याय-रूप मे नहीं ग्रहण करना होगा क्योंकि सामरस्य से ही आनंद की सिद्धि हुई है। वस्तुतः यह आनंद की भूमिका है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन में आनंद की कल्पना शिव की एक प्रमुख शक्ति के रूप मे की गई है। उनकी पाँच प्रमुख शक्तियाँ बताई गई हैं जो इस प्रकार हैं:—चित्, आनंद, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। तंत्रालोक मे यह बताया गया है कि परम चैतन्यरूप शिव इन पाँच शक्तियों से सदैव परिपूर्ण रहते हैं। वस्तुतः आनंदवाद के मूल को पकड़ने मे कुछ गड़बड़ चलती आई है। इसे कई विद्वान् एकांत रूप में प्रत्यभिज्ञादर्शन से ही समर्पित मानते हैं और कुछ इसकी परंपरा ऋग्वेद से लेकर इस दर्शन तक ठहराते हैं। ये विद्वान् जो पहली कोटि मे आते हैं उनका यह भी कहना है कि प्रसादजी को प्रेरणा भी प्रत्यभिज्ञादर्शन से ही मिली थी। इधर 'कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह' मे प्रकाशित प्रसादजी के एक लेख 'आर्यों का प्रथम सम्राट् : इंद्र' से यह ज्ञात होता है कि आनंदवाद को प्रेरणा उन्हें वस्तुत. इंद्र के आत्मवाद से मिली थी। अपने निबंध 'रहस्यवाद' में भी प्रसादजी ने आनंदवाद की उत्पत्ति वैदिक काल में आत्मवाद से दिखलाकर आनंद-भावना का संबंध प्रत्यक्षतः हमारे संस्कारो से स्थापित किया है। उनका कहना है—"श्रुतियों का और नियम का काल समाप्त होने पर ऋषियों के

उत्तराधिकारियों ने आगमों की अवतारणा की और वे आत्मवादी आनंदमय कोश की खोज में ही लगे रहे। आनंद का स्वभाव ही उल्लास है, इसलिए साधना-प्रणाली में उसकी मात्रा उपेक्षित न रह सकी। ..आगम के अनुयायियों ने निगम के आनंदवाद का अनुसरण किया, विचारों में भी और क्रियाओं में भी। निगम ने कहा था—आनंदाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनंदेन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रयन्त्यभिसंविशन्ती॥ आगमवादियों ने दोहराया—आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना। आगम के टीकाकारों ने भी इस अद्वैत आनंद को अच्छी तरह पल्लवित किया—विगलितभेदसंस्कारमानन्दरसप्रवाहमयमेव (क्षेमराज)।"[1] वास्तव में इस प्रकार है कि रुद्र-विषयक मतों का समस्त मूल वैदिक ऋषियों के लिए प्रचलित थे। उन्हीं का विकास बाद में शैवागमों में हुआ। इसी कारण शैवागमों में विवेचित विभिन्न मतों में अन्य कई तत्त्वों का भी सम्मिश्रण होता चला गया है। और, 'कामायनी' में तो एक तरह से आत्मवादी संस्कृति की स्थापना ही मुख्य कार्य है। उदाहरणार्थ इडा सर्ग के पद 'जीवन का लेकर नव विचार' की छठी पंक्ति 'आनंद उच्छलित शक्ति-स्रोत जीवन विकास वैचित्र्य भरा' में 'विज्ञानभैरव' की विवृति में उद्धृत इस पंक्ति 'आनन्दोच्छलिता शक्ति सृजत्यात्मानमात्मना' की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है।

'कामायनी' में आनंद का स्वरूप क्या है, अब यह प्रश्न उठता है। वैदिक आनंदवादी दर्शन में लोक-भोग के द्वारा ही जीवन में मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। इस रूप में आनंदवादी व्यक्ति-चेतना क्रमशः विश्व-चेतना से स्थापित करता है। 'इरावती' उपन्यास के एक पात्र ब्रह्मचारी के शब्दों में इस आनंद के समीप पाप आने से डरता है। इसे आनंदवादियों का दृढ़ विश्वास कहा जा सकता है। 'कामायनी' की श्रद्धा भी इसी मार्ग को स्वीकार करती दीख पड़ती है। मैं यहाँ उसका एक कथन प्रस्तुत करता हूँ—

> "तप नहीं केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षणिक दीन अवसाद;
> तरल आकांक्षा से है भरा, सो रहा आशा का आह्लाद।

इन पंक्तियों में यह बताया गया है कि मात्र तप ही जीवन का सत्य नहीं है। सांसारिक कार्यों से विमुख रहने से करुणा है, हृदय में करुणा एवं दैन्यपूरित उदासीनता का प्रादुर्भाव हो जाता है। मूल रूप में यहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय को ही जीवन-सत्य स्वीकार किया गया है। केवल तपस्या अथवा निवृत्ति ही काम्य नहीं है, आशा-आकांक्षाओं से भरा हुआ प्रवृत्तिमूलक जीवन भी स्वीकार्य होना चाहिए।

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ५५

अतः आनंद केवल साधनागत नहीं है। इस दृष्टि से यह कह दिया जा सकता है कि 'कामायनी' में आनंद के जिस स्वरूप को उद्घाटित किया गया है वह नितांत रूप में अंतर्मुखी नहीं है। अंतर्मुखी होने के साथ-साथ वह बहिर्मुखी भी है। इसी रूप में यह अखंड आनंद है। दो टुकड़ों में इसे विभाजित किया जा सकता है—ऐसी मान्यता का अब खंडन होना चाहिए। इस आनंद के मूल में एक सर्वांतर आत्मा की स्पष्ट अनुभूति है। यह अनुभूति क्या है ? इसके लिए कहना होगा कि विश्व-भर को परम सत्ता का व्यक्ति रूप मानना ही यह अनुभूति है।

आत्मवाद की भित्ति पर खड़ा 'कामायनी' का यह आनंदवाद निश्चय ही अभेद-दृष्टि लाता है। इस आत्मवाद का एक प्रधान सिद्धांत है 'सोऽहम्'—अर्थात् 'मैं वही हूँ।' इस स्थिति में उपासक-उपास्य में भेद नहीं रह जाता। उपासक अपनी अनुभूति द्वारा उस शिव-तत्त्व का ही प्रत्यभिज्ञान करने लगता है। इस 'सोऽहम्' के पद को प्राप्त करते ही पूर्णानंद की उपलब्धि हो जाती है। यह अद्वैतजन्य आनंद शिव को, मोक्ष को और संसार को भी आनंदपूर्ण मानता है। निरानंद कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। हाँ, जहाँ सामरस्य का अभाव है और विषमता की प्रेरणा है वहाँ अवश्य दुःख की स्थिति मानी जा सकती है। मनु का चिंतन, जो 'कामायनी' के पूर्वार्द्ध में अधिकतर व्यक्त हुआ है, इसका उदाहरण है। इसका कारण यही है कि वहाँ सामरस्य का अभाव है, विषमता की प्रेरणा है; किंतु ऐसे स्थलों पर सिद्धांतों का प्रवर्त्तन नहीं हुआ है। कारण, ये स्थल मनु की शुद्धावस्था का द्योतन नहीं करते। इस प्रकार 'कामायनी' के इस पूर्वपक्ष को अन्वयव्यतिरेक-पद्धति से आनंदवाद की सिद्धि के लिए काम में लाया गया है।

इस आनंदवाद में बुद्धिवाद का विरोध किया गया है। हाँ, मात्र बुद्धि के विरोध की स्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती। इसका मूल उपादान है श्रद्धा। इस सूत्र को सुलझाने के लिए इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया—इन बिन्दुओं पर विचार करना होगा। इन शब्दों का प्रयोग प्रसादजी ने पारिभाषिक रूप में किया है और इनकी शास्त्र-सम्मत व्याख्या के साथ-साथ अपनी मौलिकता का भी प्रतिपादन किया है। यही कारण है कि इन शब्दों की व्याख्या को लेकर अनेक लोगों में भ्रम पैदा हो गया है। जब कुछ आलोचक आधुनिक ग्रंथ में इनकी व्याख्या को प्रतिपादित करते हैं तो वे प्रसादजी से कितने दूर अनजाने में ही चले जाते हैं, यह देखने-समझने की बात है। आधुनिक अर्थों में प्रसादजी का मत अधिक-से-अधिक यही है कि जीवन की नाना इच्छाएं रागप्रेरित कर्म एवं विरागमूलक ज्ञान से निरंतर संलग्न रहें। इस बात को और अधिक स्पष्ट रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि रागमूलक कर्म एवं विरागमूलक ज्ञान—इन दो तटों के बीच में से एक-दूसरे को

स्पर्श करती हुई जब भाव अर्थात् जीवन की नाना इच्छाओं की तरल धारा बहेगी तभी वास्तविक आनंद की प्राप्ति हो पाएगी। अत इच्छा की भूमि मध्य-भूमि है। दार्शनिक संदर्भ में आनंद-प्राप्ति के लिए बुद्धि एव हृदय के संतुलित समन्वय पर बल दिया गया है। कोरे बुद्धिवाद को अपनाने की सलाह नहीं दी गई है। इन दोनों का समन्वय होते ही जीवात्मा को यह ज्ञान हो जाता है कि यह समस्त विश्व उस चिति का ही स्वरूप है, इसके अनेक रूपों में भी अखंड आनंद परिव्याप्त है। मनोविज्ञान की भूमि भी इस सिद्धात से पृथक् नहीं है। मात्र शब्द-भेद दृष्टिगत होता है, प्रक्रिया व अनुभूति का नहीं। ज्ञान के इस क्षेत्र की यह निर्भ्रान्त धारणा है कि मस्तिष्क में नाना विरोधी संवेदनाओं के पारस्परिक संघर्षों के समाप्त हो जाने के बाद एक ऐसी अवस्था का निर्माण हो जाता है जो पूर्णरूपेण संतुलित होती है और उसके विकास के साथ साथ व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास में सहायता मिलती है, जो अपने-आप में एकतार और निर्विरोध होती है। मनोविज्ञान का 'मनोवृत्तियों का समंजन' सिद्धात दार्शनिक स्तर पर सामरस्य ही है।

इतने पर भी यह कहने की आवश्यकता रह जाती है कि प्रसादजी ने इस क्षेत्र में शैवागमों के आधार को लिया है। श्रद्धा को भावात्मक रूप में ग्रहण करना, समरसता के सिद्धात को प्रतिपादित करना, त्रिपुर की कल्पना और उसकी अधिष्ठात्री के रूप में श्रद्धा द्वारा (उसकी स्मिति के सहयोग से) त्रिकोण के पार्थक्य का नष्ट करना—ये कुछ ऐसी बातें हैं जिनमें शैवागमों से सीधे सहायता ली गई है। इस दृष्टि से आनंद के दार्शनिक एव मनोवैज्ञानिक रूपों की प्रतिपत्ति के लिए प्रसादजी ने 'कामायनी' में दो अवलब ग्रहण किए हैं।

आत्मा :

'कामायनी' में चिति, महाचिति, चेतनता आदि शब्द आत्मा के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। यह चराचर जगत् इसी का रूप है। वस्तुत यहाँ महाचिति आदि से आशय शिव-तत्त्व से है और यही परमतत्त्व है। यह सृष्टि, स्थिति, सहार, अनुग्रह और तिरोधान आदि लीलामय कार्यों द्वारा सृष्टि विकास करता है। अतः यह विश्व इसकी इच्छा का ही परिणाम है—

"काम मगल से मंडित श्रेय सर्ग, इच्छा का है परिणाम।"

'कामायनी' में प्रसादजी ने इसके कार्यों का उल्लेख अलक-रूप शब्दों में बाँधकर प्रस्तुत किया है —

"कर रही लीलामय आनंद, महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त।"

"चेतनता एक विलसती आनंद अखंड घना था।"

स्वेच्छा से विश्व के उन्मीलन की बात 'प्रत्यभिज्ञाहृदय' में भी कही गई है—

"स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।"

जिस प्रकार शैवदर्शन में शिव और शक्ति को आनंद-सागर और (उसकी) तरंगावली के रूप में कल्पित किया गया है उसी प्रकार यही स्वरूप 'कामायनी' में, अंत में, मनु और श्रद्धा का दिखाया गया है। भाव कहने का यह कि मनु शिव-रूप हो जाते हैं और श्रद्धा शक्ति-रूपा—

"चिर-मिलित प्रकृति से पुलकित, वह चेतन पुरुष पुरातन;
निज शक्ति-तरंगायित था आनंद-अम्बु-निधि शोभन।"

जीव :

कामायनी में मनु को पुरुष या जीव के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जीव के प्रतीक-रूप में मनु हमें प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार प्रथमतः बद्धावस्था अर्थात् पशुस्थिति में दीखते हैं। यह स्थिति तीन मलों और छः कंचुकों से आवृत स्थिति है। 'कामायनी' के पूर्वार्द्ध में मनु को इसी रूप में अंकित किया गया है। वे निर्वेद सर्ग तक भेदबुद्धि के प्राधान्य के कारण आणव स्थिति में, निर्वेद से रहस्य सर्ग तक भेदाभेद—दोनों के प्राधान्य के कारण शाक्त स्थिति में और तदुपरांत केवल अभेद-भावना के कारण शांभव स्थिति में आते हैं। यहाँ वे त्रिक् दर्शन के अनुसार जीव की जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं को पार कर तुरीयावस्था में पहुँच जाते हैं और इसके उपरांत तुरीयातीत अवस्था अर्थात् पूर्ण शिवत्व की प्राप्ति करते हैं। संज्ञाओं की दृष्टि से उनका प्रारंभिक जीवन—अर्थात् ईर्ष्या सर्ग तक—'सकल' है, यहाँ से निर्वेद तक 'प्रलयाकल' है। दर्शन सर्ग की अंतिम स्थिति 'विज्ञानाकल' की स्थिति है और रहस्य सर्ग के अंत से उनकी जीवन-स्थिति 'शुद्ध' के अंतर्गत परिगणित की जाएगी।

आनंदवाद की प्राप्ति में जीव की प्रारंभिक स्थितियाँ बाधक मानी जाती हैं। हम देख आए हैं कि 'कामायनी' के मनु प्रारंभ में ऐसी ही स्थितियों से आबद्ध हैं। इसी कारण क्षण-क्षण पर उनके मुख से निराशा, जड़ता, चिंता, अपूर्ण अहंता, स्वार्थ, अकर्मण्यता, भेद-बुद्धि, मिथ्याभिमान आदि भावनाओं की अभिव्यक्तियाँ होती हैं। किन्तु आनंदवाद की सिद्धि में ये दोष बाधक नहीं बने। कारण, यह व्यतिरेक-पद्धति है जिसमें निषेध का सहज प्रवेश है। इसी पद्धति से, मनु इन दोषों से मुक्ति का उपाय करने में दत्तचित्त होते हैं। और वे सफल होते भी हैं। अवस्थाओं, संज्ञाओं, कोशों—किसी भी दृष्टि से देखिए, वे ऊपर उठते ही जाते हैं।

जगत :

'कामायनी' में जगत् सांख्य और बौद्धों की भाँति दुःखमय तथा शांकर मत के समान मिथ्या नहीं है। शांकर मत के संदर्भ में यह बात स्पष्ट है कि यह मत आत्मवाद की दुःखमिश्रित धारा है किन्तु प्रसादजी ने आत्मवाद से जिस रूप से प्रेरणा ग्रहण की है वह निश्चय ही आनंद की अविरत लहरों से परिपूर्ण है। अतः जगत् को उन्होंने शिव का विग्रह, सत्य और आनंदमय माना है। आत्मशक्ति का यह कोशागार है, महाचिति की लीलामयी अभिव्यक्ति है और इसी कारण क्षेमंकर, मंगलमय और आनंदपूर्ण है—

"चिति का विराट् वपु मंगल, यह सत्य, सतत, चिर सुंदर।"

यह प्रश्न बार-बार उठा है कि जब यह जगत् आनंदपूर्ण-मंगलमय है तो मनु उसे असत्य, दुःखमय, क्षणिक और निस्सार आदि क्यों कहते हैं। जो बात जीव के संदर्भ में कही जा चुकी है वैसी ही बात इस संदर्भ में भी कही जानी चाहिए। मनु के इस प्रकार के उद्गार वस्तुतः 'कामायनी' के पूर्वार्द्ध में ही प्रकट हुए हैं। यह उनकी आरंभिक स्थिति है जिसमें वे जगत् के मूल रहस्य को समझ नहीं पाते हैं। श्रद्धा उनकी भ्रांति को दूर करती है, उनकी समस्याओं का समाधान करती है। यहाँ मनु प्रश्नकर्ता हैं, श्रद्धा उत्तरदात्री—

"प्रश्न था यदि एक तो उत्तर द्वितीय उदार"

उसके शब्दों में—

"कर रही लीलामय आनंद, महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त;
विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी में सब होते अनुरक्त।
काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग, इच्छा का है परिणाम;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल बनाते हो असफल भवधाम।"

इस प्रकार जगत् के विषय में श्रद्धा के जो विचार हैं उन्हें सूत्र-रूप में ग्रहण कर लेना चाहिए। यही नहीं, अगदानन्दलीन मनु बाद में स्वयं भी यही मानने लग जाते हैं—

"अपने दुख सुख से पुलकित यह मूर्त विश्व सचराचर;
चिति का विराट् वपु मंगल, यह सत्य, सतत, चिर सुंदर।"

यही 'सौंदर्य-लहरी' का इस संबंध में प्रतिपाद्य है—

"त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा।"

अर्थात् यह विश्व शिव का शरीर है और आनंदमय है। दर्शन सर्ग के प्रारंभ में 'मह

लोचन-गोचर सकल लोक'—पद और इसके आगे के दो पदों में जगत् का जो स्वरूप स्पष्ट किया गया है वह निश्चिततः प्रत्यभिज्ञादर्शन की सैद्धांतिक भूमि पर ही आधृत है। जगत् और ईश्वर में यहाँ कार्य-कारण संबंध नहीं है। इनका आपस में अभेद संबंध है और यह मान्यता शैव-सिद्धांत से समर्थित है। स्पष्ट है कि 'कामायनी' में प्रतिपादित जगत् का स्वरूप शैवाद्वैत-समर्थित ही है।

माया :

शैवागमों में इस तत्त्व को सूक्ष्म एवं व्यापक बताया गया है। यह शिव-शक्ति से अभिन्न है और विश्व का मूल कारण है। दक्षिण के शैव-सिद्धांतों की भाँति प्रत्यभिज्ञादर्शन में माया के दो भेद शुद्ध और अशुद्ध स्वीकार नहीं किये गए हैं। इसमें इसका केवल एक ही रूप—शुद्ध—स्वीकार किया गया है। वेदांतों की भाँति इसमें माया के अस्ति-नास्ति-रूप भी नहीं माने गए हैं। यह स्पष्ट कहा गया है कि यह ईश्वर की विश्व-सृजन-शक्ति है और प्रत्येक जीव को अपने-अपने कर्मों में संलग्न करती है। श्रद्धा में इन लक्षणों को देखा जा सकता है। श्रद्धा सृष्टि-विकास का कार्य संपादित करती है और मनु को संसृति का मूल रहस्य समझाकर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। महाचिति ने उसके हाथों एक संदेश भेजा है जिसे सुनाने के लिए वह संसृति में अवतरित होती है—

"यह लीला जिसकी विकस चली वह मूल शक्ति थी प्रेमकला;
उसका संदेश सुनाने को संसृति में आई वह अमला।"

प्रत्यभिज्ञादर्शन में इस तत्त्व का शुद्ध रूप स्वीकृत किया गया है। इसी रूप में इससे उत्पन्न पाँचों तत्त्व—कला, राग, विद्या, काल और नियति भी शुद्ध स्वीकार किये गए हैं। 'कामायनी' में यह स्थिति सर्वथा स्पष्ट है।

विश्व-प्रपंच का विकास :

प्रत्यभिज्ञादर्शन में यह बताया गया है कि जब सृष्टि-विकास के लिए शिव की शक्तियों में आकुंचन होता है तब पुरुष या अणुओं की उद्भावना हो जाती है। वस्तुतः यह आत्मन् का विश्वात्मक रूप ही है। इन्हें छत्तीस तत्त्वों के रूप में गिना गया है। ये हैं :—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया, काल, नियति, कला, विद्या, राग, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, नासिका, जिह्वा, चक्षु, त्वक्, श्रवण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। 'कामायनी' में ये सभी तत्त्व क्रमाक्रम-रूप में विवेचित हुए हैं। माया छठा तत्त्व है और यह वस्तुतः भेद-सृष्टि की प्रतीक है। आगे के तत्त्वों

का विकास इसी से माना गया है। माया के साथ काल, नियति, कला, विद्या और राग—ये पाँच तत्त्व मिलकर षट्कंचुक कहलाते हैं। रहस्य सर्ग में मनु इनसे मुक्त होते हुए आगे बढ़ते हैं। शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध—इन पाँच तन्मात्राओं और नासिका, जिह्वा, चक्षु, त्वक् और श्रवण—इन पाँच ज्ञानेंद्रियों का भावलोक के वर्णन में उल्लेख हुआ है। कर्मलोक के वर्णन के प्रसंग में वाक् से उपस्थ तक की पाँच कर्मेंद्रियों का उल्लेख है। यह स्पष्टतः कहा गया है कि इस लोक में पाणि-पादमय पंचभूत की उपासना हो रही है (पृष्ठ २७५)। पाँच भौतिक तत्त्वों—आकाश, वायु, अग्नि आदि का विवेचन आशा सर्ग में देखा जा सकता है।

'कामायनी' सिद्धांत प्रतिपादक ग्रंथ नहीं है। और यही कारण है कि इसमें इन तत्त्वों का व्यवस्थित विवेचन नहीं है। वस्तुतः ये सभी तत्त्व उद्देश्य-प्राप्ति के मार्ग में पड़ने वाले मील के पत्थर हैं। इन्हें इसी रूप में लेना चाहिए।

यह हमने देख लिया कि प्रसादजी ने इस क्षेत्र में प्रत्यभिज्ञादर्शन को सर्वाधिक मुख्य आधार के रूप में ग्रहण किया है। वे अपनी कई अन्य कृतियों में भी इस दर्शन से प्रभावित दीखते हैं। उनके परिवार की परम्परा भी इसी काश्मीरी शैव-दर्शन में विश्वास करती आ रही थी। प्रसादजी के अत्यंत निकट के मित्र श्री रायकृष्णदासजी ने इस विषय में लिखा है —प्रसादजी के परिवार की मुख्य दार्शनिक विचारधारा प्रत्यभिज्ञादर्शन की परंपरा में ही था, क्योंकि ये लोग शैव-दर्शनों में से काश्मीर के प्रत्यभिज्ञादर्शन को ही अत्यंत पुष्ट और प्रबल मानते थे।"[1]

इतर दार्शनिक प्रभाव

प्रत्यभिज्ञादर्शन को मुख्य आधार के रूप में ग्रहण करने के अतिरिक्त प्रसादजी ने 'कामायनी' में अन्य दार्शनिक मतों और विचारधाराओं का भी आश्रय लिया है। इन्हें गौण ही कहना चाहिए। ये प्रभाव कुछ तो परंपरा-रूप में आए हैं और कुछ युग की माँग के कारण। इनमें शून्यवाद, क्षणिकवाद, दुःखवाद, करुणा, विकासवाद, परिवर्तनवाद, परमाणुवाद, शक्तिस्पर्धावाद, भौतिकवाद, बुद्धिवाद आदि मुख्य हैं। इसी स्थल पर यह स्पष्टीकरण कर देना ठीक होगा कि इनमें अन्वय-व्यतिरेक-पद्धति का स्पर्श किया गया है। इनमें शून्यवाद, क्षणिकवाद, दुःखवाद, बुद्धिवाद और भौतिकवाद का व्यतिरेक-पद्धति में वर्णन हुआ है और विकासवाद, परमाणुवाद, परिवर्तनवाद, शक्तिस्पर्धावाद आदि वैज्ञानिक सिद्धान्तों का अन्वय-पद्धति में। यही कारण है कि प्राप्य की साधना में शून्यवाद, क्षणिकवाद आदि बाधक नहीं बन सके हैं और वैज्ञानिक सिद्धांत शैवाद्वैत में प्रतिपादित आत्मविकास के एक प्रकार से पर्याय ही हैं। इस प्रकार के प्रतिपादन का समर्थन, किसी अन्य

1. हिमालय, दीपावली पर्व

सदर्भ में, प्रसादजी ने भी इन शब्दों में किया है, अत: किसी भी प्रकार की शका की संभावना समाप्त हो जाती है. "···किंतु रस मे फलयोग अर्थात् अतिम सधि मुख्य है, इन बीच के व्यापारो मे जो संचारी भावों के प्रतीक हैं; रस को खोजकर उसे छिन्न-भिन्न कर देना है। ये सब मुख्य रस वस्तु के सहायक-मात्र हैं। अन्वय और व्यतिरेक से, दोनो प्रकार से वस्तु-निर्देश किया जाता है। इसलिए मुख्य रस का आनंद बढ़ाने में ये सहायक-मात्र ही हैं······।"[1]

ऊपर गिनाये गए प्रभावों का 'कामायनी' के सदर्भ मे विवेचन हम पृथक्-पृथक् शीर्षकों के अतर्गत न कर तीन खडो मे करेंगे। पहला खड होगा 'बौद्ध-दर्शन', दूसरा 'वैज्ञानिक मत' एवं तीसरा 'अन्य विचारधाराएँ'।

बौद्ध-दर्शन :

दु:खवाद, क्षणिकवाद और शून्यवाद—ये तीन बौद्ध-दर्शन के प्रमुख अंग हैं। इस दर्शन के अनुसार ससार के प्रत्येक कार्य-व्यापार एव उसकी गतिविधि मे तत्वत: दु:ख वर्तमान है। 'सर्व दु:ख' का यही स्पष्टीकरण है। इसी प्रकार समार के साथ ही आत्मा को भी क्षणिक बताया गया है और इसकी तुलना 'दीपशिखा' से की गई है। प्रसादजी ने इस विचारधारा को अपनी अन्य कई कृतियों में भी अन्यत्र व्यक्त किया है। आँसू, अजातशत्रु, स्कदगुप्त, चद्रगुप्त आदि कृतियों के अनेक स्थल इसी विचारधारा से प्रभावित हैं। 'स्कंदगुप्त' में चक्रपालित का यह कथन देखिए :—"लक्ष्मी की लीला, कमल के पत्तों पर जल-बिंदु, आकाश के मेघ-समारोह—अरे इनसे भी क्षुद्र नीहार-कणिकाओं की प्रभात लीला। मनुष्य की अदृष्ट लिपि वैसी ही है, जैसी अग्निरेखाओं से कृष्ण मेघ में बिजली की वर्णमाला—एक क्षण में प्रज्वलित, दूसरे क्षण मे विलीन होने वाली।"[2]

'कामायनी' में भी वैचारिक स्तर पर इस विचारधारा का संकेत मिलता है। देखिए :—

दु:खवाद :—वे सब डूबे, डूबा उनका विभव, बन गया पारावार;
उमड़ रहा है देव सुखों पर दु:ख जलधि का नाद अपार।

क्षणिकवाद :—जीवन तेरा क्षुद्र अंश है व्यक्त नील घनमाला में,
सौदामिनी-संधि-सा सुंदर क्षण भर रहा उजाला में।

---

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ८३
२. स्कन्दगुप्त, चतुर्थ अक

शून्यवाद —हँस पड़ा गगन वह शून्य लोक
जिसके भीतर बस कर उजड़े कितने ही जीवन-मरण शोक
कितने हृदयों के मधुर मिलन क्रंदन करते बन विरह कोक।

आनंदवाद की सिद्धि में ये बाधक हैं या साधक—यह विचार पहले किया जा चुका है। सिद्धांततः प्रसादजी इन्हें कल्पित मानकर 'भूमा का मधुमय दान' कहते हैं और प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार ही इन विषमताओं—बाधाओं को शिव-शक्ति की मीठी राग-टाक कहते हैं। उनका यह विश्वास है कि—

(अ) दुःख की पिछली रजनी बीच विकसता सुख का नवल प्रभात,
एक परदा यह झीना नील छिपाए है जिसमें सुख गात।

(आ) व्यथा की नीली लहरों बीच बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।

इनके अतिरिक्त बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शन की करुणा का प्रभाव भी प्रसादजी पर पड़ा है। उनके समस्त साहित्य में यह धारा विद्यमान है। 'अजातशत्रु' में वे स्पष्टतः यह सिद्ध करते हैं कि मानवी सृष्टि करुणा के लिए है।[1] 'कामायनी' के कर्म सर्ग में श्रद्धा मनु को अहिंसा और करुणा का संदेश सुनाती है। विचारधारा के इस क्रम को किसी अन्य शैली अथवा पद्धति में न लेकर श्रद्धा के मूल तत्त्वों में ही गिनना होगा। इसी के कारण उसके चरित्र का उत्कृष्ट विकास हुआ है—

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकांत स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा।
औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ।

वैज्ञानिक मत

इसके अन्तर्गत हम विकासवाद और उसके अंगभूत सिद्धांतों का विवेचन करेंगे। विकासवाद डार्विन का सिद्धांत है और 'कामायनी' पर इसका अच्छा प्रभाव है। मानव-सभ्यता का विकास दिखाने के लिए प्रसादजी ने इसके अंगों से सहायता ली है। प्रायशः इसके तीन चरण माने गए हैं—परिवर्तन से जीवन-सामर्थ्य का विकास एवं विपरीत परिवर्तन से ह्रास और शक्तिस्पर्धावाद। परमाणुओं के एकीकरण के द्वारा प्रकृति के नाना रूपों की उद्भावना भी इसका एक अंग है यद्यपि यह परमाणुवाद हमारे यहाँ के न्याय-वैशेषिक दर्शन में भी देखा जा सकता है।

---

१ अजातशत्रु, प्रथम अंक

इस दर्शन के अनुसार परमाणुओं द्वारा भौतिक तत्त्वों का निर्माण हुआ और बाद में इन्हीं तत्त्वों द्वारा सृष्टि का उद्भव और फिर विकास हुआ।

'कामायनी' पर विकासवाद के अमित प्रभाव का संकेत करते हुए मनीषी-कवि पंतजी ने कुछ आक्षेप प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार, "वह केवल आधुनिक युग के विकासवाद से काल्पनिक एवं मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रेरणा ग्रहण कर तथा अध्यात्म की दृष्टि से वही चिर-प्राचीन व्यक्तिवादी विकसित एवं समरस नित्य आनंद चैतन्य का आरोहणमूलक आदर्श उपस्थित कर भारतीय पुनर्जागरण के काव्य-युग के अंतिम स्वर्णिम परिच्छेद की तरह समाप्त हो जाती है।"[१] यह आरोप ठीक नहीं है। न तो विकासवाद 'कामायनी' का आधारभूत दर्शन है और न ही इसकी प्राप्ति पर 'कामायनी' का समापन होता है। 'कामायनी' का आधारभूत दर्शन आनंदवाद की सिद्धि का दर्शन है और अन्वय-पद्धति द्वारा यह विकासवाद आनंदवाद की प्राप्ति में सहायक ही बना है। 'कामायनी' में विकासवाद की अभिव्यक्ति इस प्रकार है—

परिवर्तनवाद:— विश्व एक बंधनविहीन परिवर्तन तो है;
इसकी गति में रवि-शशि तारे ये सब जो हैं-
रूप बदलते रहते, वसुधा जलनिधि बनती,
उदधि बना मरुभूमि जलधि में ज्वाला जलती।
तरल अग्नि की दौड़ लगी है सबके भीतर,
गल कर बहते हिम-नग सरिता लीला रचकर।
यह स्फुलिंग का नृत्य एक पल आया बीता!
टिकने को कब मिला किसी को यहाँ सुभीता?

शक्ति-स्पर्धावाद.—स्पर्धा में जो उत्तम ठहरें वे रह जावें,
संसृति का कल्याण करें शुभ मार्ग बतावें।

परमाणुवाद:—वह मूल शक्ति उठ खड़ी हुई अपने आलस का त्याग किए;
परमाणु बाल सब दौड़ पड़े जिसका सुंदर अनुराग लिए।
कुंकुम का चूर्ण उड़ाते से मिलने को गले ललकते से;
अंतरिक्ष के मधु उत्सव के विद्युत्कण मिले झलकते से।
वह आकर्षण, वह मिलन हुआ प्रारंभ माधुरी छाया में;
जिसको कहते सब सृष्टि, बनी मतवाली अपनी माया में।
प्रत्येक नाश विश्लेषण भी संश्लिष्ट हुए, बन सृष्टि रही;
ऋतुपति के घर कुसुमोत्सव था, मादक मरंद की वृष्टि रही:

१. गद्यपथ, पृष्ठ १६२

आधुनिक विज्ञान के आविष्कारों से संबद्ध अनेक सिद्धांतों की प्रतिच्छाया भी 'कामायनी' में देखी जा सकती है। ये सिद्धांत हैं—गुरुत्वाकर्षण, गतिशीलता, विद्युत्कण, वायुमंडल आदि। यहाँ इन सबके अलग-अलग उदाहरण प्रस्तुत करना बहुत अधिक आवश्यक प्रतीत नहीं हो रहा, फिर भी इन सबमें सर्वाधिक प्रमुख सिद्धांत गुरुत्वाकर्षण से संबद्ध कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

महानील इस परम व्योम में अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान ?
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते-से संधान ;
छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए !
तृण, वीरुध लहलहे हो रहे किसके रस से सिंचे हुए ;

अन्य विचारधाराएँ :

भौतिकवादी विचारधारा के भी कुछ संकेत 'कामायनी' में मिलते हैं। प्रस्तुत विचारधारा के अनुसार विश्व के निर्माण में पदार्थ का हाथ है और किसी आध्यात्मिक शक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। चिंता सर्ग में देवों का चित्रण भौतिकवाद के अनुयायियों का ही चित्रण लगता है। ये देव अपने से महान् किसी अन्य सत्ता में विश्वास नहीं करते। इनका केवल एक ही कार्य है और वह है अपने सुखों के संग्रह में अहर्निश लिप्त रहना—

सुख, केवल सुख का वह संग्रह, केंद्रीभूत हुआ इतना ;
छायापथ में नव तुषार का सघन मिलन होता जितना।

सारस्वतनगर की व्यवस्था मनु इसी भौतिकवादी विचारधारा के आधार पर करते हैं। बाद में वे पर्याप्त उन्नति को प्राप्त भी करते हैं किंतु परिणामस्वरूप वहाँ की प्रजा का राजतंत्र के प्रति विप्लव और वर्ग-संघर्ष मार्क्स-प्रतिपादित 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' (Dialectical Materialism) का स्मरण करा देता है। 'कामायनी' में यद्यपि यह चित्रण है किन्तु इसका समर्थन नहीं है। देवों का विनाश, सारस्वतनगर की व्यवस्था की असफलता, वर्ग-संघर्ष आदि इस बात के सूचक हैं कि भौतिकवाद मानव-उत्कर्ष की प्राप्ति के लिए कोई सुव्यवस्थित विचारधारा नहीं है। सारस्वत-नगर-निवासियों को कैलाश-शिखर पर पहुँचाकर उन्हें अखंड आनंद का अनुभव करते हुए दिखलाया गया है।

बुद्धिवाद सांख्यों द्वारा स्वीकृत तथा बौद्धों और जैनों में विकसित एक अनात्मवादी विचारधारा है। इस का सारा जीवन-वृत्त बुद्धिवाद का प्रतीक है और प्रसादजी की अपनी निष्ठा इस दर्शन में नहीं थी। कारण, आनंदवाद में कोरे बुद्धिवाद का घोर विरोध है। वैसे भी, इसे पतनोन्मुख जाति का दर्शन कहा गया है। पहले कहा जा चुका है कि 'कामायनी' का आनंदवाद आत्मवाद की भित्ति पर

खड़ा है। आर्यों द्वारा गृहीत यह जीवन-दर्शन प्रसादजी का अपना जीवन-दर्शन भी था। यही कारण है कि 'कामायनी' में कोरे बुद्धिवाद का विरोध किया गया है और जहाँ-जहाँ ऐसी अभिव्यक्तियाँ हैं उन्हें व्यतिरेक-पद्धति से आनंद की प्रतिष्ठा में साधक बनाया गया है।

स्पष्टतः प्रसादजी ने अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों व विचारधाराओं के संकेत 'कामायनी' में दिए हैं किंतु उनकी मूल विचारधारा और 'कामायनी' की दार्शनिक पृष्ठभूमि काश्मीरी-शैवदर्शन प्रत्यभिज्ञादर्शन से ही सम्बद्ध है। जीव-रूप में मनु की तुरीयातीतावस्था यही सिद्ध करती है, क्योंकि यही पूर्ण शिवत्व है। इसी विचार-धारा से प्रसादजी का समस्त जीवन-दर्शन आंदोलित था।

१३

महाकाव्यत्व

'कामायनी' किसी सामान्य कवि की रचना न होकर एक युग-प्रवर्तक कवि की कृति है। युग-प्रवर्तक कवि परम्परा का अन्धानुसरण न करके अपनी प्रतिभा के बल पर नवीन मानदण्डों की स्थापना करते हैं। 'कामायनी' में भी प्रसादजी ने जहाँ एक ओर संस्कृत काव्यशास्त्र में निर्दिष्ट महाकाव्य विषयक कलारूढ़ियों का निर्वाह किया है, वहीं इसके कला-विधान में अनेक मौलिक कल्पनाएँ भी की हैं। महाकाव्य की गरिमा के अनुरूप उन्होंने इसमें कथानक, उद्देश्य, चरित्र, रस और शैली के औदात्य की रक्षा की है। यह औदात्य ही 'कामायनी' का प्राण है, अतः इसी के आधार पर हम इस कृति के महाकाव्यत्व का विवेचन करेंगे।

(क) उदात्त कथानक :

विभिन्न घटना-प्रसंगों के समन्वय को शास्त्रीय शब्दावली में कथानक कहते हैं, अतः महान् घटनाओं की प्रस्तुति उदात्त कथानक का लक्षण है। 'कामायनी' में प्रसादजी ने मानव-चेतना में घटित होने वाली अनेक सूक्ष्म घटनाओं का निरूपण किया है। मानव-मन के अहंकार का पराभव, नर-नारी का प्रथम मिलन और उनके प्रणय से संस्कृति का विकास, पुरुष की निर्बाध अधिकार-भावना, अनाचार, बुद्धि पर अधिकार करने का दुर्दम प्रयत्न, परिणामस्वरूप मानव-चेतना की पराजय, इच्छा-क्रिया-ज्ञान के समन्वय द्वारा सच्चे आनन्द की उपलब्धि आदि घटनाएँ इसी प्रकार की हैं। ये सभी कार्य-व्यापार मानव-मन में आन्दोलित होते हुए चित्रित किये गए हैं। मनोविज्ञान के अनुसार भौतिक जगत् में घटित होने वाले सम्पूर्ण व्यापार मानव-मन के सूक्ष्म घटना-चक्रों के ही व्यक्त रूप होते हैं। प्रसादजी ने इसी सत्य को 'कामायनी' में वाणी दी है।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि 'कामायनी' का कथानक मात्र सूक्ष्म मनोजगत् की परिधि तक ही सीमित नहीं है, वरन् कवि ने उसमें भौतिक जगत्

की समानता के प्रसंगों को भी निरूपित किया है। प्रारम्भ में प्रलय की भयंकरता का दृश्य अथवा 'संघर्ष' सर्ग में मनु व सारस्वतनगरवासियों के मध्य होने वाले युद्ध का वर्णन स्थूल घटनाओं के रूप में ही किया गया है। किन्तु, जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने भी स्वीकार किया है, "कामायनी के कथानक की गरिमा इन प्रसंगों में उतनी नहीं है, जितनी कि मनु (मानव) के अहंकार के विस्तार में अथवा बुद्धि पर पूर्ण अधिकार करने के लिए मानव-चेतना के निर्बाध प्रयास में, अथवा आत्मा की तीन प्रवृत्तियों के प्रतीक त्रिलोक के दर्शन से मानव-चेतना द्वारा सामरस्य की सिद्धि में। बाह्य दृष्टि से देखने पर ये घटनाएँ अपनी अमूर्तता के कारण अनाकर्षक प्रतीत होती हैं, किन्तु वर्तमान युग में जिस प्रकार मानव-चेतना बुद्धि पर अबाध अधिकार प्राप्त करने का दुर्दम प्रयास कर रही है, उसे देखते हुए इससे प्रबलतर घटना की कल्पना करना सम्भव नहीं है।"[1]

'कामायनी' के कथानक का औदात्त्य एक अन्य दृष्टि से भी सिद्ध है। इसमें कवि ने अन्य महाकाव्यों के समान किसी एक राजवंश, महापुरुष या राष्ट्र का महिमा-गान नहीं किया, अपितु सम्पूर्ण मानव-जाति की विकास-गाथा प्रस्तुत की है। इस प्रकार 'कामायनी' का कथानक अखंड है और इसका स्वरूप उदात्त है।

(आ) उदात्त उद्देश्य :

'कामायनी' का उद्देश्य मानव-मन में संचरित होने वाली परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों में सामंजस्य की स्थापना करना है। इस उदात्त उद्देश्य द्वारा मानव को संघर्षशील संसार की विभिन्न समस्याओं से विरत कर शान्ति की ओर ले जाया गया है। आज के भौतिक युग में संस्कृति, राजनीति और विज्ञान अर्थात् भाव, क्रिया, ज्ञान की दिशाएँ परस्पर-विरोधी हैं, और परिणामस्वरूप अशान्ति का वातावरण छाया हुआ है। 'कामायनी' में मानवता के प्रति अटूट श्रद्धा रखते हुए जीवन में इन तीनों प्रवृत्तियों में सामरस्य का विधान कराकर अखंड आनन्द की सिद्धि की गई है।

(इ) उदात्त चरित्र :

सामान्यतया महाकाव्य का नायक महासत्त्व, क्षमावान्, गम्भीर, दृढ़व्रत आदि गुणों से युक्त धीरोदात्त कोटि का होना चाहिए। 'कामायनी' मानव-सभ्यता के प्रारम्भिक युग की गाथा है, अतः उसमें इस प्रकार के पूर्ण मानव की कल्पना करना अधिक मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि इसके नायक मनु का चरित्र विकसनशील है। वे अहंकार, स्वार्थ, कामासक्ति, चाचल्य आदि हीन

---

१. कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृष्ठ १८

वृत्तियों से घिरे हुए हैं, किन्तु अपने विवेक के बल पर धीरे-धीरे वे इन दुर्गुणों को छोड़ कर अन्ततः अखंड आनन्द की प्राप्ति करते हैं। इस प्रकार उनका चरित्र धीरोदात्त नायक से भी महान् है। शैव-दर्शन की शब्दावली में वे पाशव स्थिति को छोड़कर शाम्भव स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं।

अन्य पात्रों में श्रद्धा और इड़ा भी चारित्रिक औज्ज्वल्य की प्रतीक हैं। श्रद्धा को दया, माया, ममता आदि उच्चतर भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली स्त्री के रूप में कल्पित किया गया है और इड़ा भटकते हुए मनु को सत्पथ पर ले चलने वाली बुद्धि की प्रतीक है। इस प्रकार इन दोनों में सात्त्विक गुणों से पूर्ण विश्व-मंगल की भावना है।

(ई) उदात्त रस :

'कामायनी' में जिस रस को अंगीरस के रूप में ग्रहण किया गया है, वह परम्परागत रूप में मान्य शृंगार शान्त अथवा वीर न होकर आनन्द रस है। जीवन में सामान्यतया व्यक्ति शृंगार की ओर अभिमुख रहता है और इससे अरुचि होने पर शान्त रस को स्वीकार कर लेता है। किन्तु 'कामायनी' में मनु के चरित्र में न तो एकान्त शृंगार है और न शान्त। कथानक के उत्तरार्द्ध में शृंगार रस की अभिव्यक्ति नहीं है। प्रारम्भिक सर्गों में मनु की इसके प्रति जो आसक्ति वर्णित की गई है, वह वास्तव में उनकी बद्धावस्था के कारण है। उत्तरार्द्ध तक पहुँचते-पहुँचते वे इससे पूर्ण विमुख हो जाते हैं। किन्तु उस समय भी उनके हृदय में निर्वेद अथवा शम-मूलक शान्त रस की अनुभूति नहीं होती, वरन् वे शैव-दर्शन की आनन्द-कल्पना के अनुरूप आनन्द-रस की ही प्रतीति करते हैं। इस प्रकार 'कामायनी' का रस अखंड आनन्द है।

(उ) उदात्त शैली

'कामायनी' की शैली में क्षुद्रता का एकान्त अभाव है, कवि ने इसमें अभिव्यक्ति के औदात्य को आद्योपान्त सुरक्षित रखा है। उसमें इतिवृत्त-वर्णन द्वारा अनावश्यक विस्तार नहीं किया गया, वरन् प्रतीकों एवं लाक्षणिक उक्तियों द्वारा अपूर्व कल्पना-विलास और गरिमा की सृष्टि की गई है। डॉ० नगेन्द्र ने 'कामायनी' की इस शैलीगत विशेषता के सम्बन्ध में उचित ही लिखा है—"उसमें अद्भुत ऐश्वर्य एवं चमत्कार-विलास है, लक्षणा-व्यंजना का विचित्र चमत्कार है। कल्पना तथा भावना के अपूर्व वैभव के कारण इस शैली में मूर्ति-विधान एवं बिम्ब-योजना की अद्भुत समृद्धि मिलती है। कामायनी की भाषा सर्वत्र ही चित्रभाषा एवं प्रतीक भाषा है जिसमें तत्सम तथा संश्लिष्ट, समन्दर्भ शब्दावली का मुक्त प्रयोग हुआ है।

भाषा और अभिव्यंजना के इन असाधारण गुणों के फलस्वरूप कामायनी की शैली सामान्य से सर्वथा भिन्न हो गई है।"[1]

'कामायनी' की शैली नाना-वर्णनक्षमा है। 'लज्जा' सर्ग के कोमल भावों के अनुरूप अभिव्यक्ति की सरसता एवं मृदुलता तो उसमें है ही, प्रलयवर्णन अथवा मनु व सारस्वतनगरवासियों के द्वन्द्व-चित्रण में ओज की सृष्टि में भी वह उतनी ही सफल रही है। कथानक के अन्तर्मुखी विकास के कारण उसमें प्रगीत तत्व भी अनायास उभर आया है। इस प्रकार 'कामायनी' की शैली सामान्य की अपेक्षा असाधारण और उदात्त है।

महाकाव्य विषयक परम्परागत रूढ़ियाँ :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'कामायनी' में महाकाव्य के शाश्वत स्वरूप की कल्पना की गई है। साथ ही, प्रसादजी ने उसमें संस्कृत काव्यशास्त्र में वर्णित रूढ़ियों का पालन भी अनायास किया है। संस्कृत-आचार्यों में भामह, रुद्रट, दण्डी, विश्वनाथ आदि ने इस दिशा में विस्तारपूर्वक विचार किया है। इनमें से आचार्य विश्वनाथ का महाकाव्य विषयक चिन्तन अपेक्षाकृत स्पष्ट है। उनके अनुसार महाकाव्य में सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिए तथा सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन व भावी कथा का संकेत रहना आवश्यक है। उसका नायक सद्वंशजात, क्षत्रिय तथा धीरोदात्त गुणों से युक्त होना चाहिए। शृंगार, वीर अथवा शान्त में से एक रस उसका अंगी रस होता है, शेष सहायक रूप में प्रयुक्त रहते हैं। प्रकृति एवं जीवन का व्यापक वर्णन उसकी विशेषता है। कथानक के प्रारम्भ में सज्जन-स्तुति अथवा खल-निन्दा रहनी चाहिए और चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—की प्राप्ति उसका उद्देश्य है।[2] महाकाव्य सम्बन्धी ये विशेषताएँ 'कामायनी' के कलेवर में भी अनायास अनुस्यूत हो गई हैं।

१. महाकाव्य का प्रारम्भ :

महाकाव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण होना चाहिए और काव्य की सामाजिक उपादेयता को लक्ष्य में रखकर उसके प्रारम्भ में खल-निंदा और सज्जन-स्तुति को स्थान प्रदान किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से 'कामायनी' का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि यद्यपि उसके प्रारम्भ में इन नियमों का निर्वाह नहीं किया गया तथापि समष्टि रूप में उसमें ये सभी बातें उपलब्ध हो जाती हैं। उसके अंतिम तीन सर्गों में प्राप्त होने वाली आध्यात्मिक विचार-धारा इसी आवश्यकता की पूर्ति करती है।

---

१. कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृष्ठ २२

२. विशेष अध्ययन के लिए देखिए, 'साहित्यदर्पण'

इसी प्रकार आकुलि और किलात की हिंसात्मक प्रवृत्तियों की निन्दा करके कवि ने खल-निंदा को स्थान दिया है। श्रद्धा के विविध गुणों की प्रशंसा को सज्जन-स्तुति के अंतर्गत रखा जा सकता है।

२. सर्ग-विभाजन :

कथानक के व्यवस्थित रूप-विधान के लिए महाकाव्य में सर्ग-क्रम की स्थिति अवश्य होनी चाहिए। सर्ग-विभाजन की आवश्यकता का संस्कृत के सभी आचार्यों ने प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार महाकाव्य में कम-से-कम आठ सर्ग होने चाहिएँ और प्रत्येक सर्ग में कथा को विकसित करने की क्षमता होनी चाहिए। 'कामायनी' में इस नियम का पालन करते हुए कवि ने विभिन्न सर्गों में कथा का अत्यन्त सुन्दर रीति से विकास किया है।

३ कथा-योजना

महाकाव्य में स्वाभाविकता की रक्षा के लिए प्रख्यात वृत्त की स्थिति होनी चाहिए। उसमें नायक के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए प्रासंगिक कथाएँ भी होनी चाहिएँ। इन दोनों प्रकार की कथाओं से युक्त होने पर ही महाकाव्य में उचित गौरव का संचार हो पाता है। प्रसादजी ने 'कामायनी' में मनु और श्रद्धा की प्रसिद्ध आधिकारिक कथा के अतिरिक्त आकुलि और किलात से सम्बद्ध कथा तथा इड़ा और मानव की कथा का प्रासंगिक कथाओं के रूप में समावेश किया है।

४ नायक

किसी भी कथात्मक रचना में नायक का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है। कथा के विभिन्न सूत्र उसी के व्यक्तित्व में केन्द्रित रहते हैं। महाकाव्य में नायक के चरित्र के विषय में संस्कृत के आचार्यों ने अनेक निर्देश किये हैं। उनके अनुसार नायक देश-विशेष की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। अतः उसे सद्वंशजात होना चाहिए और उसके चरित्र में धीरोदात्त गुणों की सृष्टि होनी चाहिए। 'कामायनी' में इस तत्त्व की उचित स्थिति रही है। उसके नायक मनु महर्षि हैं और उनके चरित्र में विविध अभिजात गुणों का समावेश हुआ है।

५. रस-प्रयोग :

पाठक की चेतना को आकृष्ट करने और स्निग्धता प्रदान करने के लिए काव्य में रस-प्रयोग की आवश्यकता होती है। महाकाव्य में शृंगार, वीर तथा शान्त में से किसी एक रस का मुख्य रस के रूप में समावेश होना चाहिए। महाकाव्य के लिए निर्दिष्ट इन तीनों रसों की मुख्यता सहज-सिद्ध है। शृंगार रस में मानव-जीवन की अनुभूतियों को समाहित करने की सर्वाधिक क्षमता होती है, वीर रस का

'उत्साह' स्थायी भाव पाठक की चेतना का उन्नयन करता है और शान्त रस मानव को संघर्ष से पृथक् कर शान्ति की ओर उन्मुख करता है। इनमें से किसी एक रस को प्रमुख रस के रूप में ग्रहण करने के उपरान्त महाकाव्य में अन्य रसों को गौण रूप में समाविष्ट किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से 'कामायनी' में शान्त रस को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है और शृंगार, वीर, करुण, रौद्र, भयानक, वत्सल आदि अन्य रसों का सहायक रसों के रूप में प्रयोग किया गया है।

६. छन्द-योजना

महाकाव्य में रस-विधान के लिए साहित्याचार्यों ने उसके किसी भी सम्पूर्ण सर्ग में एक ही छन्द के प्रयोग का विधान करते हुए प्रत्येक सर्ग में छन्द-परिवर्तन को आवश्यक माना है। सम्पूर्ण सर्ग में एक ही छन्द के प्रयोग से आने वाली एकरसता के निवारण के लिए उन्होंने प्रत्येक सर्ग के अंत में भी छन्द-परिवर्तन का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से औत्सुक्य की पुष्टि करने के लिए उन्होंने सर्ग के अन्तिम छन्द में आगामी सर्ग की कथा की संकेतात्मक सूचना को भी अनिवार्य माना है। यद्यपि प्रसादजी ने 'कामायनी' में इनमें से प्रत्येक सर्ग में भिन्न छन्द-प्रयोग और सम्पूर्ण सर्ग में एक ही छन्द के प्रयोग के विषय में निर्धारित नियमों का निर्वाह नहीं किया है, तथापि सर्ग के अन्तिम छन्द में आगामी सर्ग की कथा की सूचना प्रदान करने की प्रणाली को उन्होंने भी स्थान दिया है।

७. प्रकृति-चित्रण :

प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर मानव-चेतना प्रारम्भ से ही आकर्षण का अनुभव करती आई है। अतः काव्य में भी प्रकृति-चित्रण को पर्याप्त स्थान प्रदान किया जाता रहा है। इसी कारण महाकाव्य में भी प्रकृति के विभिन्न सौन्दर्यमूलक उपादानों के व्यापक वर्णन का विधान किया गया है। 'कामायनी' में इस आवश्यकता की पूर्णतः पूर्ति की गई है। उसमें प्रकृति के सभी प्रकार के उत्कृष्ट चित्र उपलब्ध हो जाते हैं। उसके कथानक का विकास ही प्रकृति के अंचल में हुआ है, अतः उसमें प्रकृति-वर्णन के लिए अनेक अवसर वर्तमान रहे हैं। कथा के अनुकूल उसमें प्राकृतिक पदार्थों की रूपकात्मक अभिव्यक्ति भी प्रदान की गई है।

८. युगाभिव्यक्ति :

साहित्याचार्यों ने महाकाव्य में युग-धर्म के निर्वाह को भी आवश्यक माना है। उनके अनुसार महाकाव्यकार को अपनी कृति में विभिन्न समकालीन सामाजिक समस्याओं का मनन, विवेचन और समाधान उपस्थित करना चाहिए। इस नियम

के निर्वाह से पाठक को काव्य के अध्ययन में अधिक रुचि का अनुभव होता है, क्योंकि इसके कारण वह उसमें अपनी निजी समस्याओं का चित्रण पाता है। 'कामायनी' में प्रसादजी ने हिंसा के प्रश्न को लेकर इसी सामयिकता का निर्वाह किया है।

'कामायनी' के महाकाव्यत्व पर भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार विचार करने के उपरान्त यह आवश्यक हो जाता है कि पाश्चात्य मत के आधार पर भी उसका परीक्षण कर लिया जाए। पाश्चात्य आचार्यों ने महाकाव्य को दो वर्गों में विभाजित किया है—(अ) संकलनात्मक महाकाव्य (Epic of Growth), (आ) कलात्मक महाकाव्य (Epic of Art)। संकलनात्मक महाकाव्य में कथा-विकास की सहजता और शैली की सुबोधता की ओर ध्यान दिया जाता है। कलात्मक महाकाव्य में अभिव्यंजना की विभिन्न प्रणालियों के अनुसार रचना-सौन्दर्य को विकसित करने का उद्योग किया जाता है। इस दृष्टि से 'कामायनी' को 'कलात्मक महाकाव्य' कहा जा सकता है।

विश्लेषण :

वर्तमान साहित्यकार मनोविज्ञान के आधार पर विशेष बल देते हैं। इस दृष्टि से महाकाव्य के स्वरूप पर विचार करने पर हम देखते हैं कि उसमें रस की उचित अभिव्यक्ति होनी चाहिए—क्योंकि वही पाठक के मन पर सर्वाधिक प्रभाव डालने वाला तत्त्व है। इस दिशा में 'कामायनी' सर्वथा सफल रचना है और उसमें विभिन्न रसों का उचित समावेश हुआ है। 'कामायनी' में प्रमूर्त घटनाओं के कारण बाह्य जीवन की अभिव्यक्ति को अपेक्षाकृत अल्प स्थान प्राप्त हुआ है। मानव-जीवन की सामान्य धारा से पृथक् होने के कारण उसके महाकाव्यत्व में व्यवधान उपस्थित हो सकता था, किन्तु प्रसादजी ने इस दिशा में उपयुक्त कौशल का परिचय दिया है। उन्होंने 'कामायनी' की घटनाओं का संयोजन करते समय इस बात का पूर्ण ध्यान रखा है कि उनसे सूक्ष्म रूपकात्मक अर्थ की सिद्धि के साथ-साथ सामान्य अर्थ की भी प्रतीति होती रहे, और कथा के विकास में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न होने पाए।

महाकाव्य की धारणा मानव-जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति है। इस दृष्टि से 'कामायनी' निश्चय ही सफल रचना है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार जीवन की पूर्णता स्थूल भौतिकता में न होकर आध्यात्मिक विचार-धारा में है। 'कामायनी' में कवि ने इसी भावना को ग्रहण करते हुए आध्यात्मिक विचारों का श्रेष्ठ प्रतिपादन किया है। अतः यह स्पष्ट है कि महाकाव्य के अधुनातन लक्षणों के आधार पर विवेचन करने पर हम 'कामायनी' को सफल महाकाव्य कह सकते हैं।

कतिपय आलोचक 'कामायनी' को महाकाव्य न मान कर एक श्रेष्ठ काव्य-

ग्रन्थ के रूप मे ही स्वीकार करते हैं। उनके द्वारा प्रमुख रूप से दो आपत्तियाँ उपस्थित की जाती हैं—(अ) यद्यपि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र मे प्रतिपादित किये गए महाकाव्य के अधिकाश लक्षण 'कामायनी' मे उपलब्ध हो जाते हैं, तथापि कही-कही उनका व्यतिक्रम भी देखने में आता है। अत. 'कामायनी' को महाकाव्य नही कहा जा सकता। (आ) घटना-प्रभाव की दृष्टि से 'कामायनी' दोषपूर्ण काव्य है, क्योंकि उसमे घटनाओ का क्रमवत् सयोजन उपलब्ध नहीं होता—महाकाव्य मे इस प्रकार की स्थिति नही होनी चाहिए। इन दोनों आपत्तियो को स्वीकार करते हुए हम इस विषय मे यही कह सकते है कि सस्कृत-महाकाव्य के अधिकाश लक्षणों से युक्त होने पर भी यदि 'कामायनी' मे कारणवश उसके कतिपय लक्षणो का अभाव हो गया है तो केवल उन्ही के आधार पर उसे महाकाव्य न मानना सर्वथा अनुचित है। 'कामायनी' में इन लक्षणो का निर्वाह न होने का कारण यह है कि वर्तमान युग मे भाव और शैली, दोनो की दृष्टि से काव्य-रचना की प्रणाली मे कुछ अन्तर आ गया है।

'कामायनी' के कथा-विकास मे असम्बद्धता प्रतीत होने का प्रमुख कारण यह है कि वह रूपक-काव्य है। उसमे एक ओर मनस्तत्त्व का आधार लिया गया है और दूसरी ओर जटिल दार्शनिक सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति की गई है। इन दोनों बातों के कारण कथानक की सहजता को आघात पहुँचना सर्वथा स्वाभाविक है, तथापि प्रसादजी ने इस विषय में यथासम्भव सतर्क रहने का प्रयास किया है।

प्रभाव-सृष्टि की दृष्टि से इस काव्य के कथानक का मूल्य अप्रतिम है। लक्षण ग्रन्थों का स्थूल अनुसरण न करती हुई भी 'कामायनी' वस्तुत. अपने महान् जीवन-दर्शन (उद्देश्य), काव्य-सौष्ठव, मानवीय चेतना-विकास आदि के कारण अप्रतिम महाकाव्य है।

१४

मूल्यांकन

आधुनिक युग के प्रमुख काव्य-सचेतकों में महाकवि जयशंकर 'प्रसाद' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस युग की प्रमुख काव्य-धारा 'छायावाद' के तो वे प्रकाश-स्तम्भ हैं ही, साहित्य की अन्य विधाओं को सशक्त बनाने में भी उनका योगदान अविस्मरणीय है। वस्तुतः उनके कलाकार-हृदय की प्रत्येक भेंट अप्रतिम और असामान्य है। उन्होंने जो कुछ लिखा वह युग-विशेष की सम्पत्ति न होकर साहित्य की स्थायी निधि बन गया।

प्रसाद-साहित्य इयत्ता और ईदृक्ता दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। 'कामायनी' उनके सम्पूर्ण कृतित्व का प्रतिनिधि महाकाव्य है। वर्तमान युग के काव्य-ग्रन्थों में इस महाकाव्य का व्याख्यात्मक एवं आलोचनात्मक अनुशीलन सम्भवतः सबसे अधिक हुआ है। प्रायः प्रत्येक आलोचक ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। इन सभी विचारों का किसी-न-किसी दृष्टि से निजी महत्त्व रहा है। अतः हमने यह उचित समझा है कि 'कामायनी' विषयक कतिपय प्रमुख मन्तव्यों का संकलन कर दिया जाय जिससे छायावाद की इस महान् उपलब्धि के मूल्यांकन में सुविधा रहे।

"यदि हम इस विशद काव्य की अन्तर्योजना पर न ध्यान दें, समष्टि रूप में कोई समन्वित प्रभाव न ढूँढें, श्रद्धा, काम, लज्जा, इडा इत्यादि को अलग-अलग लें तो हमारे सामने बड़ी ही रमणीय चित्रमयी कल्पना, अभिव्यंजना की अत्यन्त मनोरम पद्धति आती है।............ इस प्रकार प्रसादजी प्रबन्ध-क्षेत्र में भी छायावाद की चित्र-प्रधान और लाक्षणिक शैली की सफलता की आशा बँधा गए हैं।"[1]

"एक ओर यदि कामायनी आधुनिक हिन्दी-काव्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गौरव-ग्रन्थ है तो दूसरी ओर वह सबसे अधिक विवादास्पद भी है।............ कामायनी के दोषों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसके प्रतिपाद्य, जीवन-दर्शन

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६६३-६४

और वस्तुकौशल आदि में निश्चय ही अनेक छिद्र हैं; किन्तु उसकी समग्र परिकल्पना इतनी उदात्त और उसका आयाम इतना विराट् है कि अपूर्व प्रातिभ ऐश्वर्य के बिना यह सम्भव नहीं हो सकता था।"[1]

"कामायनी की शैली सर्वत्र ही एक अपूर्व लोकोत्तर स्तर पर अवस्थित रहती है। उसमें क्षुद्रता का एकान्त अभाव है; प्रयत्न करने पर सम्पूर्ण काव्य में एकाध अपवाद ही मिलेगा।"[2]

"अपनी मर्मग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा मानव प्रकृति का विश्लेषण कर प्रसादजी ने इस सुन्दर काव्य की रचना की है। इसमें मानवीय प्रकृति के मूल मनोभावों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से पहचान कर संग्रह किया गया है। यह मनु और कामायनी की तो कथा है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है।"[3]

"प्रसादजी की काव्य-शैली में नवीनता और उनके भाषा-प्रयोगों में पर्याप्त व्यंजकता और काव्यानुरूपता है। प्रथम बार काव्योपयुक्त पदावली का प्रयोग कामायनी में किया गया है।"[4]

"जिस प्रकार ताजमहल के उपकरणों को विच्छिन्न करके फिर उसी सामग्री के दुबारा ताजमहल बनाने की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार कामायनी जैसी एक महान् कलाकृति की स्वर-संगति को भंग कर फिर से उसका निर्माण करने की सम्भावना मन में नहीं उठती।"[5]

"प्रसादजी की कामायनी महाकाव्यों के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ती है, क्योंकि वह ऐसा महाकाव्य है जो ऐतिहासिक धरातल पर भी प्रतिष्ठित है और सांकेतिक अर्थ में मानव-विकास का रूपक भी कहा जा सकता है। कल्याण-भावना की प्रेरणा और समन्वयात्मक दृष्टिकोण के कारण वह भारतीय परम्परा के अनुरूप है।"[6]

"हिन्दी में ऐसा काव्य दूसरा नहीं है।......कामायनी को तत्त्वतः समझने

१. डॉ० नगेन्द्र : कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृष्ठ ११
२. डॉ० नगेन्द्र : कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृष्ठ २१-२२
३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ६५
४. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ७९
५. सुमित्रानन्दन पन्त : 'गद्य-पथ' में 'यदि मैं कामायनी लिखता' शीर्षक लेख, पृष्ठ १५५
६. महादेवी वर्मा : 'कामायनी—एक परिचय' (ले०—गंगाप्रसाद पाण्डेय), भूमिका, पृष्ठ ८

के लिए यह भी जान लेना आवश्यक है कि छायावाद युग की सबसे सुन्दर सृष्टि होने पर भी······कामायनी का सत्य न प्रत्यक्ष की छाया है न निराकार का रहस्य।"[1]

"कवि ने वासना-व्यंजक विशेषणों का सर्वथा त्याग करके ऐसे-ऐसे विशेषण रखे हैं जिनसे स्वतः निष्कलुषता का वातावरण प्रस्तुत हो जाता है और इस वातावरण में श्रद्धा का जो रूप प्रकट होता है वह, सचमुच ही, स्पर्श से दूर और मन में अनिर्वचनीय स्फुरण उत्पन्न करने वाला है।"[2]

"सब मिलाकर यह काव्य वर्तमान छायावाद का उपनिषद् है, पिछले युग के कवित्व का अन्तिम स्तूप है। नवीन युग इसके आगे है।"[3]

"कामायनी में काव्य-तत्व प्रधान और स्पष्टतया परिव्याप्त है। प्रतीकात्मक होते हुए भी यह काव्य ही है, दर्शन या अध्यात्म नहीं। इस महाकाव्य ने न केवल हमारी अनुभूति को समृद्ध बनाया, वरन् उसका परिष्कार कर उच्च भाव-भूमि की ओर अभिमुख किया है। अतएव 'कामायनी' हमारे युग को प्रसाद की एक महत्वपूर्ण देन है।"[4]

"कामायनी का प्रणयन करते समय कवि के अन्तर्मन में यह विचार प्रबल रहा है कि वह एक ऐसी उदात्त और व्यापक जीवन-दृष्टि इस काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करे जो संघर्ष, स्वार्थ, प्रतारणा और संकीर्णता के युग में भूले-भटके मानव को आलोक-पथ दिखा सके।"[5]

"कामायनी में जहाँ कहीं दार्शनिक विवेचन है वहाँ मानव-जीवन तथा इतिहास की पीठिका वर्तमान है, जिससे उनका दर्शन बहुत ही व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक हुआ है। सचमुच प्रसादजी ने दर्शन से जीवन को देखा है और जीवन से दर्शन को। इसीलिए वे कामायनी की दार्शनिक पीठिका पर मानव-जीवन का आनन्दपूर्ण भवन-निर्माण करने में सफल हुए हैं।"[6]

"कामायनी में प्रसादजी ने दर्शन की शुष्कता को इतना सरस और आकर्षक

१. महादेवी वर्मा : कामायनी—एक परिचय, भूमिका, पृष्ठ ९-१०
२. दिनकर : पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण, पृष्ठ ४८
३. आचार्य शान्तिप्रिय द्विवेदी : युग और साहित्य, पृष्ठ २८१
४. डॉ० भगीरथ मिश्र : 'कला, साहित्य और समीक्षा' में 'कामायनी में प्रतीकात्मकता' लेख, पृष्ठ ३२६
५. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक : 'कामायनी में व्यापक जीवन-दृष्टि' लेख, सरस्वती संवाद (प्रसाद अंक) जनवरी-फरवरी '५८, पृष्ठ १४६
६. डॉ० रामनारायणसिंह : कामायनी-अनुशीलन, पृष्ठ १७१

बना दिया है कि उनके ये दार्शनिक विचार तनिक भी नीरस प्रतीत नहीं होते। साथ ही उन्होंने उन विचारों को व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध करके दर्शन की व्यावहारिकता भी सिद्ध की है।"[१]

"प्रसादजी ने लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों का प्रयोग करके कामायनी में उक्ति-वैचित्र्य एवं अर्थ-गाम्भीर्य दिखाने का सफल प्रयत्न किया है।......इसी कारण प्रायः कामायनी काव्य को क्लिष्ट कहकर उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। परन्तु तनिक काव्य के मर्म तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाय और उसमें वर्णित लाक्षणिक एवं व्यंजना-प्रधान गूढ़ वर्णनों को समझने की चेष्टा की जाय तो कामायनी में सर्वत्र भाव-सौन्दर्य के ही दर्शन होंगे।"[२]

"कामायनी प्रसाद के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से निर्मित हुई है। उसमें कवि की कला का चरमोत्कर्ष है और वह उसके जीवन-चिन्तन से अनुप्राणित है। इस महाकाव्य की दार्शनिक रेखायें प्रारम्भ से ही प्राप्त होती हैं। कवि ने इन्हीं को विकसित और पल्लवित किया।......काव्य और दर्शन के सुन्दर संयोग से निर्मित 'कामायनी' प्रसाद के महान् कृतित्व का प्रतिनिधित्व करती है।"[३]

"कामायनी प्रसाद के व्यक्तित्व की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है। उसमें कलाकार अपनी समस्त साधना को लेकर प्रस्तुत हुआ। वह उसके जीवन-मन्थन का परिणाम है। लक्षण-ग्रन्थों का अनुसरण न करती हुई भी कामायनी अपने जीवन-दर्शन, काव्य-सौष्ठव, मानवीय व्यापार के आधार पर महाकाव्य का पद प्राप्त करती है। 'कामायनी' महाकाव्य महाकवि प्रसाद की सर्वोत्तम कृति के रूप में हिन्दी में आई, और एक निधि बन कर रहेगी।"[४]

"रामचरितमानस के बाद यही एक ऐसा महाकाव्य है जो हिन्दी को विश्व-साहित्य में स्थान दिला सकता है। होमर, मिल्टन, वाल्मीकि और कालिदास से तुलना करके भी इसका गुण-दोष देखा जाय—इतनी योग्यता इस कलाकृति में है।"[५]

"कामायनी में काव्य के सभी रूपों का (संकर नहीं) समन्वय है। यह समन्वय ही 'कामायनी' का अपूर्व रूप है। 'कामायनी' का यह अपूर्व रूप प्रसाद की सर्वतोमुखी प्रतिभा का वरदान है।......महाकाव्य की उदात्तता, गम्भीरता और

१. डॉ० द्वारिकाप्रसाद : कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृष्ठ ४७०
२. डॉ० द्वारिकाप्रसाद : कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन, पृष्ठ २५०
३. डॉ० प्रेमशंकर : प्रसाद का काव्य, पृष्ठ ५६८-५६९
४. डॉ० प्रेमशंकर : प्रसाद का काव्य, पृष्ठ ५४३
५. डॉ० विनोदशंकर व्यास : प्रसाद और उनका साहित्य, पृष्ठ २०३

वर्णनात्मकता, गीतिकाव्य की भावप्रवणता, तीव्रता और संगीतमयता, नाटक की क्रिया, गति, वार्तालाप और सन्धियाँ, रोमांस की क्रिया, भावुकता और मदलक्ष्यात्व तथा नीति-काव्य की श्रेयशीलता, साधना और शिक्षा आदि काव्य के विविध रूपों के विविध तत्त्वों की प्रचुरता के समन्वय से सम्पन्न कामायनी साहित्य की एक अपूर्व, अद्वितीय और अनमोल निधि है।"[1]

"कामायनी की उदात्त विचार-भूमि सबके लिए सुलभ काव्य-तत्त्व नहीं है, परन्तु कामायनी की प्रत्येक पंक्ति जिस मधु रस से सिक्त है, वह सबके लिए आस्वाद्य है।"[2]

"कामायनी (१९३६) में छन्दों का जो वैभव है, जो गम्भीर संगीत है, वह एक दिन की चीज नहीं। इसके पीछे 'प्रसाद' के वे छोटे-बड़े प्रयोग हैं जो वर्षों चलते रहे और जिन्होंने 'प्रसाद' के काव्य को संगीत की बहुमुखता और मधुरिमा से भर दिया।"[3]

"श्रद्धा के मुख से निकला हुआ एक-एक शब्द जयशंकर प्रसाद का त्रस्त और भग्न-हृदय राष्ट्र को आशा और जीवन का युग-सन्देश है, इसमें किसी प्रकार का तर्क-वितर्क प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, और यह सन्देश शाश्वत सन्देश है जिससे किसी भी युग का कोई भी राष्ट्र या व्यक्ति जीवन की प्रेरणा पा सकता है।"[4]

"कामायनी जिस शैली में प्रणीत है उसमें युग की गीतिमत्ता का पुट भी पूर्णरूप में वर्तमान है। खड़ी बोली के युग में प्रबन्ध-काव्य को अत्यधिक लालित्य-पूर्ण भाषा में रचने का श्रेय प्रसाद को अवश्य दिया जायेगा।"[5]

"उसमें व्याकरण की नियमबद्धता नहीं, पर कोमलता है, ध्वन्यात्मकता है और भावों का वह आरोह-अवरोह है जो एक साथ ही हृदय और मस्तिष्क दोनों पर गहरा प्रभाव डालता है।"[6]

"प्रसाद की बृहत्तम कृति कामायनी में न केवल कवि की सृजन सामर्थ्य

---

१. डॉ० रामानन्द तिवारी : 'कामायनी का रचना-विधान', सरस्वती-संवाद (प्रसाद अंक) जनवरी-फरवरी १९५८, पृष्ठ १४१
२. डॉ० रामरतन भटनागर : प्रसाद-साहित्य और समीक्षा, पृष्ठ ७३
३. डॉ० रामरतन भटनागर : प्रसाद-साहित्य और समीक्षा, पृष्ठ २०
४. डॉ० शम्भूनाथ पाण्डेय : 'प्रसाद का युग-सन्देश' लेख, सरस्वती-संवाद (प्रसाद अंक) जनवरी-फरवरी १९५८, पृष्ठ ३४
५. डॉ० शकुन्तला दूबे : काव्य रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास, पृष्ठ ७०
६. श्री आनन्द नारायण शर्मा : 'कामायनी : छायावाद का प्रकाश-स्तम्भ' लेख, 'सुमित्रा', प्रसाद अंक, जुलाई १९५१, पृष्ठ ६१

और जाग्रत चेतना के दर्शन होते हैं वरन् अव्यक्त मानवीय मूलाधारों की आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी मिलती है।"[1]

"मानवता के मानसिक विकास का यह चित्रांकन, मनस्तत्त्व की यह अपूर्व समीक्षा संसार के साहित्य में कदाचित् ही कहीं मिले। मानवता का महाकाव्य प्रस्तुत कर इसके द्वारा प्रसादजी ने प्रमुख विश्व-साहित्य-स्रष्टाओं के समकक्ष स्थान पाया है। जीवन के इसी मौलिक विश्लेषण के कारण कामायनी अमर रहेगी।"[2]

"छायावादी काव्य में कामायनी ही एक ऐसा ग्रन्थ है जो समाज-नीति और राजनीति के क्षेत्र में नये साहस-प्रयासों को लेकर निर्द्वन्द्व रूप से आगे बढ़ता है।"[3]

"विश्व-काव्यों में कामायनी का अपना एक स्वतन्त्र स्वरूप है। प्रसाद ने इस महाकाव्य में युग की बिखरी हुई समस्याओं को लेकर उनका मानव-जीवन के शाश्वत सत्य से पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर दिया है। इसमें एक ओर युग और राष्ट्र की सम्पूर्ण चेतना है, तो दूसरी ओर जीवन के शाश्वत उपादान। यहाँ कवि ऐसे तत्त्वों की खोज में है जो युग की विभीषिकाओं का समाधान प्रस्तुत कर सकें।"[4]

"कामायनी में कलापक्ष के अन्तर्गत अनेक प्रकार की सफल शैलियों का प्रयोग किया गया है, शब्द-विधान का स्तर समकालीन अन्य सभी काव्य-कृतियों से कहीं ऊँचा है, औदात्त्य-मंडित है, प्रतीक-पद्धति की एक-तार योजना इसमें की गई है, हृदयग्राही बिम्बों का अतुल कोष इसमें छिपा पड़ा है, भाषा का समजित रूप में गरिमामय सौन्दर्य उद्घाटित किया गया है और मनोविज्ञान एवं दर्शन के सहयोग से एक ऐसा वास्तुशिल्प प्रस्तुत किया गया है जिसका दोष यही है कि वह सर्वत्र महान् है।"[5]

"कामायनी निस्सन्देह अपने समय का चित्र प्रस्तुत करने वाला महाकाव्य है, जिसमें युग की चेतना एवं वाणी प्रतिध्वनित है। उसकी कहानी पौराणिक एवं रूपकात्मक होती हुई भी आज की कहानी है। उसमें पुराण-प्रसिद्ध पात्रों को बीसवीं शताब्दी की भावना एवं कल्पना का साकार रूप बनाकर उपस्थित किया गया है।"[6]

१. शचीरानी गुर्टू : काव्य-दर्शन, भूमिका, पृष्ठ २३
२. शिवनन्दन प्रसाद : प्रसाद की कला—स० गुलाबराय, पृष्ठ ६१
३. गजानन माधव मुक्तिबोध : प्रसाद का जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व—स० महावीर अधिकारी, पृष्ठ २०७
४. सुशीला भारती : कामायनी—इतिहास और रूपक, पृष्ठ १७७
५. देवदत्त कौशिक : कामायनी की परख, पृष्ठ ७६
६. डॉ० कामेश्वरप्रसादसिंह : कामायनी का प्रवृत्तिमूलक अध्ययन, पृष्ठ २००

"यह एक सांस्कृतिक काव्य है, जिसके द्वारा प्रसादजी ने तमिल कवि सुब्रह्मण्यम् भारती तथा बँगला कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भाँति ही भारतीय संस्कृति का समुज्ज्वल रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है, जिसमें हम श्रद्धा-मनु के माध्यम से हिमवान पर आसीन भगवान् शिव के समान ही उन्नत एवं [illegible] अपने आदर्शों की गरिमा के भव्य दर्शन प्राप्त करते हैं।"[1]

"कुछ लोगों ने 'कामायनी' को छायावादी प्रवृत्तियों का काव्य कहकर उसकी मूल दृष्टि की उपेक्षा की है। वस्तुतः 'कामायनी' के शिल्प में छायावादी प्रवृत्तियों का केवल सौन्दर्य ग्रहण किया गया है, दृष्टिकोण बिल्कुल भिन्न है। यह काव्य युग की कठोर समस्याओं को समन्वय कर चलता है तथा उनके [illegible] ही नहीं खोजता, भारतीय जीवन को पलायनवाद के विरुद्ध खड़ा कर सका होने तथा स्वातन्त्र्य की सिद्धि तक पहुँचने का भी सन्देश देता है। अतः 'कामायनी' हमारी काव्य-धारा का एक स्थायी आलोक-स्तम्भ है।"[2]

---

१. डॉ० [illegible] — कामायनी-[illegible], पृष्ठ [illegible]
२. डॉ० [illegible] — कामायनी का नया मूल्यांकन, पृष्ठ [illegible]

परिशिष्ट

(अ) 'कामायनी' में उपलब्ध मुहावरे

(आ) 'कामायनी' विषयक स्वतंत्र समीक्षा-ग्रन्थ

(अ) 'कामायनी' में उपलब्ध मुहावरे

मुहावरों का प्रयोग भाव और भाषा को प्रभावशाली बनाने के लिए किया जाता है। प्रसादजी ने 'कामायनी' में इनकी समुचित योजना की है। 'कामायनी' में प्राप्त होने वाले इन सभी मुहावरों की सूची हमने परिशिष्ट में दे दी है।

इस सूची में दो प्रकार के मुहावरों का सकलन है—(क) परम्परागत, (ख) नवीन। परम्परागत मुहावरे तो चिरकाल से कवियों द्वारा प्रयुक्त होते आ रहे हैं, किन्तु नवीन मुहावरों का प्रयोग अभी अधिक नहीं हुआ है। ये प्राय. प्रसादजी के निजी प्रयोग हैं। मुहावरों के समान रूढ़ न बन पाने पर भी उनमें 'मुहावरा' कहलाने की शक्ति अवश्य है। इसी कारण उन्हें भी मुहावरा मान कर इस सूची में सकलित कर दिया गया है। यहां यह ज्ञातव्य है कि कामायनीकार ने अनेक परम्परा-प्राप्त मुहावरों को प्रचलित रूप में ग्रहण नहीं किया है। भाषा-सस्कार अथवा छन्द के अनुरोध से उनमें शाब्दिक परिवर्तन कर दिये गए हैं।

क्रमांक	पृष्ठ-संख्या	मुहावरा
१.	३/१	भीगे नयनों से देखना
२.	३/५	पत्थर बन कर पड़े रहना
३.	५/५	गहरी नींव डालना
४.	७/१	अपने में मौन होना
५.	७/२	मद में भूलना
६.	८/२	तारामों को कलना (अर्थात् तारे गिनना)
७.	१२/१	दर्शन की प्यास होना
८.	१४/२	खोया प्रात खोजना
९.	१६/३	व्योम चूमना
१०.	१७/५	फिर से श्वास लेना
११.	१६/४	शब्दों को पीना
१२.	१६/४	साँस उमड़ना
१३.	२०/४	कानों में गूँजना
१४.	२१/१	डूबते का अवलम्बन

क्रमांक	पृष्ठ-संख्या	मुहावरा
१५.	२६/४	हँसी का फूट चलना
१६.	३३/२	हृदय में धड़कन होना
१७.	३३/३	रंग बदलना
१८.	३४/२	जाल तानना
१९.	३६/४	चोट खाना
२०.	३७/३	निधि न खोलना
२१	३९/१	अंधेर मच जाना
२२	४०/३	छाती का दाग़ खोजना
२३.	४५/१	निर्जन का अभिषेक करना
२४	४५/४	लुटे-से निरखने लगना
२५	५१/५	आँख की भूख मिटाना
२६	५५/१	दाँव हारना
२७	५५/१	मन कर खोलना
२८.	५६/४	अपने ही बोझ से दबना
२९.	६३/२	आँखें खोलना
३०.	६४/१	आँखों में भरना
३१.	६५/२	फेरी देना
३२.	६६/२	आँख का रोना
३३.	६६/३	आँख को रोकना
३४.	६७/३	आँखें बन्द करना
३५.	६७/४	घूँघट खींचना
३६.	७०/२	डूब चलना (अर्थात् सुध-बुध खो देना)
३७.	७०/५	कान खोल कर सुनना
३८.	७३/१	गले मिलना
३९.	७३/५	फूल चलना (अर्थात् विकासमान होना)
४०.	७४/३	पथ पर से चलना
४१.	८३/३	मौन नयन से देखना
४२.	८४/४	हृदय मान करना
४३.	८५/२	ध्यान धरे हुए बैठे रहना
४४.	८६/२	आँख न ठहरना
४५.	८६/२	नाम खो जाना
४६.	८७/१	सुख की नींद

क्रमांक	पृष्ठ-संख्या	मुहावरा
४७.	८९/१	छवि के भार दबना (अर्थात् अत्यन्त रूपवान् होना)
४८.	९३/१	दृष्टि फेंकना
४९.	९३/१	हँसी बिखरना
५०.	९७/३	अधरों पर उँगली रखना
५१.	९७/३	माया में लिपटना
५२.	९७/५	सिर नीचा करना
५३.	९८/४	सपना बन जाना
५४.	९८/५	आँख खोलना
५५.	९८/५	समीर पर तैरना (अर्थात् हवा में उड़ना)
५६.	१०४/३	मन ढीला होना
५७.	१०९/३	कान में भरा होना
५८.	११०/१	तिल का ताड़ बनना
५९.	११०/५	सुख की सीढ़ी होना
६०.	१११/१	पत्ता हुआ सूखा
६१.	१११/२	छुई-मुई बनना
६२.	१११/४	आँखों से कहना
६३.	१११/५	लहू का घूंट पीना
६४.	११२/१	सुख की बीन बजाना
६५.	११३/१	आशा का कुसुम खिलना
६६.	११५/४	मन नाच उठना
६७.	११६/३	सोए भाव जग जाना
६८.	११६/४	अलग जा बैठना
६९.	११७/१	हृदय खोल कर कहना
७०.	११८/१	बोझ ढोना
७१.	१२३/१	आसन मार कर बैठना
७२.	१२७/५	आँख नीचे रहना
७३.	१३३/१	मुंह मोड़ना
७४.	१३५/२	खेल खिलाना
७५.	१३६/१	सुख की सीमा बनना
७६.	१३६/२	मुख में रक्त लगना
७७.	१३६/४	हाथ में होना

क्रमांक	पृष्ठ-संख्या	मुहावरा
७८.	१४४/२	पथ देखना
७६.	१५३/४	आँस का पानी (अर्थात् दुखमय बातें)
८०.	१५८/१	ममता तोड़ना
८१.	१५८/१	होड़ लगाना
८२.	१५८/२	कुलाँचें भरना
८३.	१५६/२	दिगन्त घूमना
८४.	१६०/१	हिचकी आना
८५.	१६०/१	हरा रहना (अर्थात् प्रसन्न रहना)
८६.	१६१/२	देह पूजना (शरीर की ही चिन्ता करना)
८७.	१६२/१	तूल के समान उड़ा देना
८८.	१६२/१	शूल चुभना
८९.	१६२/२	मन जलना
९०.	१६३/२	कलुष डालना (कीचड़ उछालना)
९१.	१६४/१	गिरते-पड़ते चलना
९२.	१६४/२	रंग बदलना
९३.	१६५/१	पंखों में झूलना (अर्थात् अनिश्चित होना)
९४.	१६६/२	लकीर पीटना
९५.	१६६/२	भाग्य बाँधना
९६	१६७/१	काली छाया डालना
९७.	१६६/२	दिन आना
९८.	१६६/२	पुट कड़कना
९९.	१७०/१	पट डालना (अर्थात् बात छिपाना)
१००.	१७०/२	कर पसारना (हाथ फैलाना)
१०१.	१७०/२	पैरों चलना
१०२.	१७१/१	परिकर कसना
१०३.	१७१/१	मद छाना
१०४.	१७१/२	सिर पर भार लेना
१०५.	१७३/१	मन बहलाना
१०६.	१७५/४	पार न होना (अर्थात् सीमाहीन)
१०७.	१७५/२	घड़ी भर विश्राम न होना
१०८.	१७६/१	स्वर भरना (अर्थात् मुखरित होना)
१०९.	१७७/१	हृदय बड़ा करना

क्रमांक	पृष्ठ-संख्या	मुहावरा
११०.	१७७/३	बिखरी कड़ियाँ जोड़ना
१११.	१७८/३	घात न सह सकना
११२.	१७८/४	युग छिप जाना
११३.	१७९/४	चौकड़ी भरना
११४.	१८०/४	नभ में रेखा खिंचना (व्यर्थ सिद्ध होना)
११५.	१८१/१	नौका बनना
११६.	१८५/१	(परित्राण का) पथ नाप उठना (अर्थात् रक्षा का उपाय सोचना)
११७.	१८५/५	दल झुक आना (अर्थात् आक्रमण होना)
११८.	१८६/२	पख लगा कर उड़ना
११९.	१८६/३	आ जुटना
१२०.	१८८/३	ध्यान लगाना
१२१.	१९१/५	करवट लेना
१२२.	१९३/१	ठोकर खाना
१२३.	१९४/४	बंधन टूटना
१२४.	१९६/६	फूल जाना
१२५.	१९७/३	हाँ में हाँ मिलाना
१२६.	१९७/५	बात बनना
१२७.	१९७/८	मनमानी करना
१२८.	२०१/६	साहस फूकना
१२९.	२०१/१०	पानी की तरह खून बहना
१३०.	२०३/२	हुंकार करना
१३१.	२०५/४	सन्नाटा खींचना
१३२.	२०८/२	सीमा तोड़ना
१३३.	२१०/४	पथ में रोड़े बिखराना
१३४.	२११/४	फेरा डालना
१३५.	२१३/४	व्यथा-गाँठ खोलना
१३६.	२१४/१	रात कटना
१३७.	२१४/३	डग भरना
१३८.	२१५/४	रोएँ खड़े होना
१३९.	२१८/२	गद्गद होना
१४०.	२१९/१	हृदय का कुसुम खिलना

क्रमांक	पृष्ठ-संख्या	मुहावरा
१४१.	२२२/१	रंगरली खेलना (रंगरेली करना)
१४२.	२२३/२	हरियाली भरना
१४३.	२२४/१	जीवन धुल जाना (पवित्र हो जाना)
१४४.	२२५/४	हरा होना
१४५.	२२८/४	आँधी उठना (अनेक भाव आना)
१४६.	२२६/२	मन ही मन सोचना
१४७.	२३०/१	मन ही मन चुपचाप मरना
१४८.	२३०/४	अपने में ही उलझना
१४९.	२३५/२	आँखें लाल करना
१५०	२३५/२	रंग बदलना
१५१.	२३६/२	भाग्य सो जाना
१५२	२३६/१	साहस छूट जाना
१५३.	२४०/२	सुहाग छीनना
१५४.	२४१/१	सिर चढ़े रहना
१५५.	२४१/२	लहर गिनना
१५६.	२४१/२	धूप-छाँह होना
१५७.	२४२/२	छाती जलना
१५८.	२४३/२	ममता तोड़ना
१५९.	२४३/२	मुँह मोड़ना
१६०.	२४७/२	सिर ऊँचा होना
१६१.	२४८/२	हाथ से तीर छूट जाना
१६२.	२४६/२	डर लगना
१६३.	२५३/२	पट खोलना
१६४.	२६०/५	जमे रहना
१६५.	२६४/३	पास बिठा कर जीव फाँसना
१६६.	२६५/१	आकाश में फूल खिलना
१६७.	२६७/३	अंधकार में दौड़ लगाना
१६८.	२६८/४	मर-मर कर जीना
१६९.	२७०/२	खीम काटना
१७०.	२८६/१	रंग भरना
१७१.	२८६/४	घर भरना
१७२.	२६२/५	गिरते-पड़ते दौड़ना

(आ) 'कामायनी' विषयक स्वतंत्र समीक्षा-ग्रंथ

१. कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ (डॉ० नगेन्द्र), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
२. कामायनी की भाषा (रमेशचन्द्र गुप्त), अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली
३. कामायनी-विमर्श (डॉ० भगीरथ दीक्षित), समुदाय प्रकाशन, बम्बई
४. कामायनी-चिन्तन (डॉ० विमलकुमार जैन), भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली
५. कामायनी-समीक्षा (डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त तथा रमेशचन्द्र गुप्त) हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली
६. कामायनी में नाटकीय तत्त्व (इन्दुप्रभा पाराशर), हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ
७. कामायनी : एक पुनर्विचार (गजानन माधव मुक्तिबोध), हिमांशु प्रकाशन, जबलपुर
८. कामायनी का प्रवृत्तिमूलक अध्ययन (डॉ० कामेश्वरप्रसादसिंह) अनुसंधान प्रकाशन, कानपुर
९. कामायनी : मूल्यांकन और मूल्यांकन (डॉ० इन्द्रनाथ मदान), नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद
१०. कामायनी का प्रतिपाद्य (डॉ० जगदीशप्रसाद शर्मा) चिन्मय प्रकाशन, जयपुर
११. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन (डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना), विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
१२. कामायनी का सभ्रद्ध मनन (सत्यभूषण योगी), रणजीत प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्ज, दिल्ली
१३. कामायनी-सौन्दर्य (डॉ० फतहसिंह), भारती भंडार, प्रयाग
१४. कामायनी-अनुशीलन (डॉ० रामलाल सिंह), इंडियन प्रेस प्रा० लि०, प्रयाग
१५. कामायनी-दिग्दर्शन (डॉ० यतीन्द्र), स्टूडेंट्स बुक कम्पनी, ग्वालियर
१६. कामायनी का नया अन्वेषण (डॉ रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'), चिन्मय प्रकाशन, जयपुर
१७. कामायनी : इतिहास और रूपक (सुशीला भारती), मिलिन्द प्रकाशन, हैदराबाद
१८. कामायनी की परख (देवदत्त कौशिक), किताब महल, इलाहाबाद
१९. कामायनी-दर्शन (डॉ० कन्हैयालाल सहल तथा डॉ० विजयेन्द्र स्नातक), आत्माराम एंड संस, दिल्ली
२०. कामायनी : एक परिचय (गंगाप्रसाद पांडेय),
२१. कामायनी में शब्द-शक्ति-चमत्कार (डॉ० विमलकुमार जैन), हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली

२२. कामायनी-रहस्य (विजयबहादुर सिंह राठौर), इंडियन प्रेस प्रा० लि०, इलाहाबाद
२३. कामायनी की पारिभाषिक शब्दावली (डॉ० वेदव्रत आर्य),
२४. कामायनी (डॉ० रामरतन भटनागर),
२५ कामायनी के पन्ने (भुवनचन्द्र पाण्डेय) नवयुग ग्रन्थागार, लखनऊ
२६. कामायनी-समीक्षा (सुधाकर पाण्डेय) आराधना प्रकाशन, वाराणसी
२७. कामायनी-दिग्दर्शन (तरुणेन्दु शेखर शुक्ल),
२८. कामायनी-दर्शन (प्रतापचन्द्र जैसवाल),
२६. कामायनी-समीक्षा (डॉ० ओमप्रकाश शर्मा), हिन्दी साहित्य भंडार, दिल्ली
३० कामायनी-समीक्षा (डॉ० देशराजसिंह भाटी), अशोक प्रकाशन, दिल्ली
३१. कामायनी की टीका (डॉ० देशराजसिंह भाटी), अशोक प्रकाशन, दिल्ली
३२. कामायनी की टीका (विश्वम्भर 'मानव'), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
३३. कामायनी की व्याख्यात्मक आलोचना (विश्वनाथ लाल 'शैदा') हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
३४. कामायनी भाष्य (डॉ० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना), विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
३५. जयशंकर प्रसाद और कामायनी (राजकुमार), पद्म बुक कम्पनी, जयपुर